दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० ८

आध्यात्मिक पद

(राग-अब मेरे समकित सावन आयो)

अब मेरे चेतन अनुभव आयो।
पर से ममता छूटण लागी, स्वरस सुखानंद भायो।
अब मेरे चेतन अनुभव आयो।
पर में आपो मान सदा ही, भोगन में लिपटायो।
जड़ की सेवा युग युग कीनी, जीवन व्यर्थ गमायो॥अब०॥
मिथ्या भ्रम तम भागन लाग्यो ज्ञान प्रकाश सुहायो।
वस्तु स्वरूप समझ में आयो, झूठो ही भरमायो॥अब०॥
ज्ञाता दृष्टा स्वभाव तुम्हारो, सतगुरु यों समझायो।
पर में करता बुद्धि हटे अब, स्व में स्व सुख पायो॥अब०॥
जग में सब कुछ क्रम से होता; कौ परिणमन रुकायो।
राग द्वेष ममता माया में, नाहक ही भरमायो॥अब०॥
ज्ञान उदधि सुख अमृत पूरण, कैसी प्यास सतायो।
स्व की ओर निहार 'भंवर' अब सुख सागर लहरायो॥अब०॥
अब मेरे चेतन अनुभव आयो।

—एक आत्मार्थी, गोहाटी

चारित्र
ज्ञान
दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

दिसम्बर १९६७] वार्षिक मूल्य ३) (२७२) एक अंक २५ पैसा [मंगसर सं० २०२४

आजीवन सभ्य

आत्मधर्म के आजीवन सभ्य बनकर सर्वज्ञ वीतराग कथित निर्मल तत्त्वज्ञान के प्रचार में सहयोगी बनें और अन्य को भी प्रेरणा करें।

१०१) देकर निम्न सज्जन बने हैं:—

(१७) श्री प्रकाशचन्द्रजी जैन
फैक्ट्री इन्सपेक्टर, फ्रीगंज,
क्षपणकमार्ग, उज्जैन (म०प्र०)

(१८) श्री राजमलजी छाबड़ा,
बी.ए., एल.एल.बी
द्वारा मांगीलाल सुरजमल छाबड़ा
कुचामन सिटी (राजस्थान)

नया प्रकाशन

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १

(पाँचवीं आवृत्ति)

जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित जैन सिद्धांत ज्ञान में तत्त्वज्ञानी की प्राप्ति में प्रवेश करने के लिये अति स्पष्टता से द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान कराया है। गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया कृत जैन सिद्धांत प्रवेशिका के दूसरे अध्याय का आधार मुख्यता से लिया गया है। धर्म जिज्ञासुओं में बहुत मांग चालू रही है। अत: यह पाँचवीं बार सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित हुई है। (चौथी आवृत्ति में तीन हजार पुस्तकें छापी थी) पृष्ठ संख्या १३०, बढ़िया कागज, मूल्य ७५ पैसा थोक मंगाने पर २५ टका कमीशन।

विषय-सूची

१. जैन शासन में निश्चय-व्यवहार
२. सम्यग्दृष्टि का उपादेय तत्त्व
३. जीव अजीव का भेदज्ञान
४. चमकता हुआ चैतन्य सूर्य और चैतन्य हंस
५. ज्ञानी का भेदज्ञान, अज्ञानी की देह बुद्धि
६. सर्वज्ञस्वभाव के यथार्थ निर्णय बिना धर्म उत्पन्न नहीं होता।
७. हे जीव! चिन्ता को छोड़कर आत्मा की साधना कर
८. स्वसन्मुख परिणाम के समय
९. अन्तिम सीख
१०. जिनेन्द्र दर्शन का भावभरा उपदेश
११. वैराग्यवान हाथी
१२. विविध वचनामृत
१३. रात्रि चर्चा का संक्षिप्त विवरण
१४. परम शांतिदायिनी अध्यात्म भावना
१५. तप से भी सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता
१६. शुद्धात्मा को पहिचानना, यही जिनशासन का तात्पर्य है शुद्धात्मा का ज्ञान करने में सभी का ज्ञान हो जाता है।
१७. भजन
१८. आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी के वचनामृत
१९. समाचार संग्रह

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

दिसम्बर : १९६७ ☆ वर्ष २३वाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४९४ ☆ अंक : ८

जैन शासन में निश्चय-व्यवहार

पूज्य स्वामीजी ने बतलाया हुआ जैन शासन का संक्षिप्त सार है—जिसके मनन से हजारों प्रश्नों का निराकरण हो जाता है। *—हरिलाल जैन*

- निश्चय-व्यवहार दोनों की संधि सहित वीतराग वाणी जैन शासन में ही है।
- यह वीतराग की वाणी वस्तु की स्वतंत्रता को प्रगट करती है एवं सहकारी अनेक निमित्तों को भी प्रगट करती है।
- उपादान और निमित्त दोनों को स्वीकार करना और फिर भी दोनों की स्वतंत्रता को स्वीकार करना-ऐसी निश्चय-व्यवहार की संधि वीतरागी जिनमार्ग में ही हो सकती है।
- अखंड शुद्ध आत्मद्रव्य, वह निश्चयसम्यक्त्व का विषय, उसके साथ का व्यवहारसम्यक्त्व देव-गुरु-शास्त्र को, छहों द्रव्यों को, उनके गुण-पर्यायों को, बंध-मोक्ष को, निमित्तों को, इन सबको स्वीकार करता है। ऐसा सम्यग्दर्शन का निश्चय-व्यवहार जैन शासन में है।
- छहों द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों का मूल कारण हैं और वही उपादान हैं, अन्य पदार्थ तो बहिरंग सहकारी कारण हैं। शुद्ध आत्मा, वह निश्चय से सम्यक्त्व का उपादान है और बाह्य पदार्थ-छह द्रव्य-निमित्त, वे सब व्यवहारसम्यक्त्व के विषय हैं, व्यवहारसम्यक्त्व उन सबको स्वीकार करता है, परंतु निश्चयसम्यक्त्व शुद्ध स्वद्रव्य को ही निर्विकल्परूप से स्वीकार करके उसी में एकत्व करता है।
- निश्चय-व्यवहार दोनों के विषय एक साथ बतलाकर वीतराग की वाणी निश्चय के विषयभूत शुद्ध आत्मा का ही आदर कराती है, क्योंकि सम्यग्दर्शनादि के लिये वह शुद्धात्मा ही उपादेय है। उसे उपादेय करने से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं।
- निश्चय-व्यवहार के ऐसे वीतरागी रहस्य को प्रकाशित करनेवाला जैन शासन जयवंत हो!

[पूज्य कानजीस्वामीजी के प्रवचन से]

सम्यग्दृष्टि का उपादेय तत्त्व

(जिसमें बंध-मोक्ष नहीं है, ऐसे परमतत्त्व के लक्ष्य से मोक्षमार्ग खुल जाता है)

[परमात्मप्रकाश, गाथा ६८ पर स्वामीजी का सुंदर प्रवचन]

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखने पर ध्रुवस्वभावी शुद्धद्रव्य बंध-मोक्ष को नहीं करता। जब कि पर्यायनय से देखने पर आत्मा शुद्धात्मा की अनुभूति के अभाव में शुभ-अशुभ उपयोगरूप परिणमता है, अर्थात् बंध को करता है, उसीप्रकार शुद्धात्मानुभूति प्रगट करके आत्मा मोक्षमार्ग और मोक्ष को करता है, इसतरह पर्यायरूप आत्मा बंध-मोक्ष को करता है, परंतु शुद्धद्रव्यरूप ध्रुव आत्मा बंध-मोक्ष को नहीं करता; वह तो परमपारिणामिकपरमभावस्वरूप सदा एकरूप है।

ध्रुववस्तु में पर्याय की एकता द्वारा शुद्धात्मा की अनुभूति करके आत्मा, पर्याय में मोक्ष को करता है; और ऐसी अनुभूति न हो, वहाँ आत्मा शुभ-अशुभराग से कर्म का बन्ध करता है।—इसप्रकार पर्यायदृष्टि से देखें अर्थात् व्यवहाररूप आत्मा को देखें तो बंध-मोक्ष है; परंतु निश्चयरूप आत्मा-जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला सत् है, उसे देखिये तो उसमें बंध-मोक्ष नहीं है।

बंध-मोक्ष दोनों पर्यायें व्यवहारनय का विषय हैं; निश्चयनय का विषय परमभाव ऐसा शुद्ध एकरूप स्वभाव है, उस स्वभाव को देखो तो आत्मा बंध-मोक्ष को करता ही नहीं। हाँ, उस स्वभाव को लक्ष करनेवाली पर्याय स्वयं मोक्षमार्गरूप और मोक्षरूप परिणमित हो जाती है, परंतु वह भिन्न पर्याय व्यवहार का विषय है।

बंध-मोक्ष, शुभ-अशुभ, जीवन-मरण यह विसदृशरूप परिणमन है, और परमस्वभाव एकरूप सदृश है, वह बंध-मोक्ष से निरपेक्ष है, शुभ-अशुभ और जीवन-मरण से रहित है। ऐसे परमस्वभाव को बतलाने का क्या प्रयोजन है ?—कि ऐसे परम स्वभाव को दृष्टि में लेने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

अहो, वीतराग सर्वज्ञ भगवान के कहे हुये तत्त्व भी आश्चर्यकारी हैं। अनंत गुणस्वभाव को दृष्टि में लेने से पर्याय में अनंत गुणों का शुद्ध कार्य होता है, और बंधभाव दूर होता है।

इसप्रकार बंध का अभाव होना और मोक्ष का होना–वह व्यवहार के विषय में है, परंतु ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा बंध–मोक्ष को नहीं करता, एकरूप है, उसमें बंध–मोक्ष का द्वित्व नहीं है। एकरूपतत्त्व में बंध और मोक्ष ऐसे दो प्रकार कैसे ? ध्रुवदृष्टि करने से पर्याय में से बंध टलता है और मोक्ष होता है—यह तो ठीक है, परंतु वह ध्रुवदृष्टि जिस शाश्वतवस्तु को देखती है, उस वस्तु में बंध–मोक्ष के भेद नहीं हैं।

अब शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! यदि शुद्धनय से आत्मा को बंध–मोक्ष नहीं है, तो फिर बंध को टालना और मोक्ष का उपाय करना भी व्यर्थ है ? तो फिर मोक्ष के पुरुषार्थ का उपदेश क्यों देते हो ?

उसके उत्तर में कहते हैं कि भाई, शुद्ध आत्मा को उपादेय करने से पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट होता है और बंधन टलता है, परंतु संपूर्ण शुद्धवस्तु कहीं नवीन प्रगट नहीं होती।

मोक्ष, बंधनपूर्वक ही होता है; जिसे बंधन हो, वह उसका अभाव करके मोक्ष प्राप्त करता है। अब, शुद्धद्रव्य की दृष्टि से अर्थात् शाश्वत वस्तु के स्वभाव में यदि बंधन हो तो वह बंधन भी नित्य ही रहे, यदि ध्रुवदृष्टि से बंधन हो तो बंधन ही ध्रुव ही रहे, और आत्मा सदा बँधा ही रहे—परंतु ऐसा है नहीं। बंधन का अभाव होकर मोक्षदशा प्रगट होती है, इसलिये बंधन क्षणिक है, वह ध्रुवस्वरूप नहीं है। और ध्रुववस्तु बद्ध नहीं है, इसलिये ध्रुववस्तु की अपेक्षा बंध–मोक्ष नहीं है। ध्रुववस्तु को बँधी हुई कहना, वह उसका अनादर करने जैसा है और ध्रुववस्तु को बंधन नहीं है तो उसे मोक्ष कहना भी नहीं बन सकता।

जैसे, कोई मनुष्य 'जेल में से छूटा' ऐसा कहने से, वह मनुष्य पहले जेल में था–ऐसा सिद्ध होता है। परंतु जो मनुष्य कभी जेल में गया ही नहीं, उसे ऐसा कहना कि 'तू जेल से मुक्त हुआ' तो वह उसका अपमान करने जैसा है। उसीप्रकार पर्यायदृष्टि से आत्मा को पर्याय में बंधन था और पर्याय में मोक्ष हुआ–यह बात बराबर है, परंतु जिस वस्तुस्वभाव में कभी बंधन था ही नहीं, उस वस्तुस्वभाव को 'मोक्ष' कैसे कहना ? भाई, ऐसा जो तेरा परम एकरूप स्वभाव है, उसे स्वानुभूतिगम्य करने से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धस्वभाव की अनुभूति से पर्याय में बंध का नाश और मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

मोक्ष कहो या निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय कहो– वह भी व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय के आश्रय से मोक्ष होता है – ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है, परंतु जो मोक्षपर्याय है,

वह व्यवहारनय का विषय है – ऐसा बताना है। और निश्चय के विषय में आत्मा का एकरूप परमस्वभाव है, इस परमस्वभाव का आश्रय करनेवाली पर्याय मोक्षमार्ग है। ध्रुवस्वभाव के आश्रय से, पर्याय में जो बंध है, उसका अभाव होकर मोक्ष होता है, यह सत्य है। इसलिये पर्याय में मोक्ष का उद्यम करना योग्य है।

—पर्याय में मोक्ष का उद्यम कैसे होता है ?

—कि पर्याय को ध्रुवस्वभाव में अंतर्मुख करने से मोक्ष का उद्यम होता है।

शुद्धपर्याय द्वारा मोक्षमार्ग की साधना करना, वह धर्मात्मा का व्यवहार है; धर्मात्मा के इस व्यवहार को अज्ञानी नहीं पहिचानता; वह तो राग को और बाह्य क्रिया को ही व्यवहार समझता है। निष्क्रिय अर्थात् बंध-मोक्ष की क्रिया जिसमें नहीं है, ऐसा ध्रुवपरमस्वभाव वह निश्चय है, और उसके आश्रय से शुद्धपरिणति प्रगट हुई, वह व्यवहार है। वह परिणति सक्रिय है। बंधन टालना और मोक्ष प्रगट करना, यह क्रिया पर्याय में प्रगट होती है। देखो, इस एक आत्मतत्त्व में द्रव्य तथा गुणों की अपेक्षा निष्क्रियता और उत्पाद-व्ययरूप पर्याय अपेक्षा सक्रियता दोनों बातें एक साथ हैं; अर्थात् पर्याय में मोक्ष का प्रयत्न होता है। ध्रुव शुद्धात्मा में अंतर्लक्ष करने से मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट होता है।

ऐसा जो परमशुद्धस्वभाव है, वह धर्मी जीव को उपादेय है। किसप्रकार ? कि वीतराग निर्विकल्प समाधि द्वारा शुद्धात्मा पर लक्ष किया है, उस समाधि में शुद्ध आत्मा उपादेय है। ऐसे शुद्धात्मा का लक्ष ही सच्ची विश्रांति का स्थान है। – यही सम्यग्दृष्टि का उपादेय तत्त्व है; ऐसे परमतत्त्व को उपादेय करने से पर्याय में मोक्षमार्ग खुल जाता है। ऐसे अंतरतत्त्व को अंतरंगदृष्टि द्वारा उपादेय करने का संतों का उपदेश है।

जीव-अजीव का भेदज्ञान

(परमात्म-प्रकाश)

वीतरागस्वभाव का ग्रहण वीतराग परिणति द्वारा होता है। जो पर्याय शुद्ध स्वभाव का अनुभव करने के लिये अंतर में जाती है, वह पर्याय भी वैसी ही शुद्ध हो जाती है और रागादि से भिन्न परिणमन करने लगती है, तभी सच्चा भेदज्ञान होता है।

जितने भाग में शुद्ध आत्मा अनंत गुण सम्पन्न है, उतने ही भाग में उसकी निर्विकल्प शुद्ध अनुभूति है। राग भी उतने ही भाग में है और शरीर तथा कर्म का संबंध भी उतने ही क्षेत्र में है। अब एक ही क्षेत्र में इन चारों का निवास (शुद्धता, राग, शरीर, कर्म) होने पर भी उनका पृथक्करण-

शुद्धात्मा अनंत गुणसम्पन्न है, उसकी निर्विकल्प अनुभूति उसके साथ अभेद है; रागादि परभाव वास्तव में उस स्वभाव से पृथक् हैं; शुद्ध चैतन्यमय जीव की अपेक्षा से रागादि अजीव हैं और देह, कर्मादि तो भिन्न अजीव हैं। शरीर या कर्म के साथ जीव का संबंध कहना, वह तो असद्भूत है, वह सचमुच जीव में नहीं होने पर भी एकक्षेत्र अपेक्षा से जीव के कहना वह असद्भूत है। राग अपनी पर्याय में है परंतु वह अशुद्ध है, इसलिये अशुद्धनिश्चय से राग आत्मा का है, शुद्ध निश्चय में आत्मा रागरहित है; इसलिये शुद्ध आत्मा उपादेय है और रागादि अशुद्धता हेय है।

निर्मल अनुभूति की पर्याय एक समयपर्यंत शुद्ध परिणति होने से शुद्ध सद्भूतव्यवहार है; परंतु वह शुद्धपरिणति उस काल आत्मस्वभाव में तन्मय होकर व्याप्त है, अभेद है, और इस स्वभाव की अपेक्षा से राग को अजीव कहा है।

प्रश्न—राग तो जीव की पर्याय है, फिर भी उसे अजीव क्यों कहा गया ?

उत्तर—अजीव दो प्रकार से है—एक जीव के साथ संबंधवाला अजीव और दूसरा जीव से संबंधरहित अजीव।

रागादि का जीव के साथ संबंध होने पर भी वह जीव के स्वलक्षणभूत-स्वभावभूत नहीं है, इसलिये राग अजीव है। और पुद्गल-धर्म-अधर्म-काल-आकाश, यह पाँचों तो जीव

के साथ संबंधरहित होने से अजीव ही हैं; जीव से इनके प्रदेश ही भिन्न हैं। जीव तो शुद्धचेतनाअनुभूति मात्र है। समस्त अजीव से भिन्न ऐसा शुद्ध जीव ही उपादेय है–ऐसा जानना।

भाई, तेरा लक्षण तो चेतना है, ज्ञान–अनुभूति, वह तेरा वास्तविक लक्षण है। ज्ञान के साथ जो सुख, श्रद्धा, चारित्र इत्यादि गुण हैं, वह भी तेरा लक्षण है, परंतु रागादि तेरा सच्चा लक्षण नहीं है, उनके द्वारा आत्मस्वरूप लक्षित नहीं होता; और देहादि भी अजीव लक्षणवाले हैं। राग और देह तो तेरे स्वरूपप्राप्ति के साधन नहीं हैं। साधन और साध्य एक ही जाति के होते हैं, विरुद्ध नहीं होते। शरीर और रागादि अजीव होने के कारण इनसे शुद्ध जीव की अनुभूति नहीं हो सकती। शुद्ध अनुभूतिगम्य ऐसा शुद्ध जीव स्वभाव ही उपादेय है।

जिसप्रकार जंगवाली डिब्बी में मूल्यवान चमकता हुआ रत्न रखा हुआ हो, वहाँ वह रत्न डिब्बी से और जंग से पृथक् है और अपने प्रकाशादि गुणों से युक्त है; उसीप्रकार शरीररूपी डिब्बी में कषायरूपी जंग के बीच में रहा हुआ चैतन्यप्रकाश से चमकता हुआ आत्मरत्न जड़ देह से पृथक् है और कषायरूपी जंग से भी पृथक् है। डिब्बी में से रत्न को उठा लेने पर रत्न डिब्बी और जंग से पृथक् ही है, उसीप्रकार राग और शरीर से पार चैतन्यतत्त्व को अंतर्दृष्टि में लेने पर वह तत्त्व, राग से और देह से पार चैतन्यप्रकाशरूप अनुभव में आता है।

अहो, अनंत–अनंत असीम आकाश से भी जिसके ज्ञानस्वभाव की गंभीरता अनंतगुनी है, ऐसा यह आत्मा है। वह देह से और इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, संकल्प–विकल्प से भी नहीं जाना जा सकता। देहादि अनंत पदार्थों से स्वयं भिन्न होते हुए भी वह अनंत पदार्थों को जानने की शक्तिवाला है। पर को अपनेरूप किये बिना उसे जान ले, ऐसी आत्मा की शक्ति है। राग को जानता है, फिर भी रागयुक्त न हो–ऐसी ज्ञान की शक्ति है। राग को जानते हुए अज्ञानी को रागमय ही आत्मा भासित होता है किंतु राग से पृथक् रहनेवाला ज्ञानस्वभाव उसके लक्ष्य में नहीं आता; इसलिये भेदज्ञान नहीं होता।

भाई, प्रथम तू लक्षण द्वारा भिन्न पहिचानकर ज्ञान को और राग को पृथक् तो जान। पृथक् जाने बिना भव–तन–भोग से सच्ची विरक्ति नहीं होगी, और उनसे सच्ची विरक्ति हुए बिना आत्मस्वरूप में उपयोग नहीं लगेगा; आत्मस्वरूप के ध्यान बिना इस संसार की बेल का नाश नहीं होता; इसलिये कहते हैं कि इस संसाररूपी बेल का नाश करने के लिये हे जीव! तू भेदज्ञान के बल से भव–तन–भोग से विरक्त होकर अतीन्द्रिय आत्मा का ध्यान कर।

अहो, आत्मज्ञान से उत्पन्न जो वीतरागी परम आनंद है, उसके आस्वादन से धर्मी को समस्त परभावों एवं परद्रव्यों का अनुराग छूट गया है, इसलिये उनसे विरक्त होकर वह शुद्धात्मा का ही चिंतन-मनन करता है; उसका संसार छूट जाता है। इसलिये भेदज्ञान सहित शुद्धात्मा का ध्यान कर्तव्य है। ऐसे ध्यान बिना अन्य उपायों से आत्मा जानने में आ जाये-ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

देहादि या संकल्प-विकल्प जो कि शुद्धात्मा से भिन्न हैं, उनके द्वारा शुद्धात्मा का ग्रहण किसप्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता। तो फिर किसप्रकार ग्रहण हो सकता है ? वीतरागी स्वसंवेदनरूप अनुभव ज्ञान से ही आत्मा का स्वभाव ग्रहण किया जा सकता है। जो स्वोन्मुख परिणति आत्मा में अभेद हुई, उसी में आत्मा का ग्रहण है; परसन्मुख परिणति में आत्मा का ग्रहण नहीं होता। वीतरागस्वभाव का ग्रहण वीतरागपरिणति द्वारा होता है किंतु राग द्वारा नहीं होता। भाई, प्रथम ऐसे सम्यक्मार्ग का निर्णय तो कर! ऐसे अपने स्वभाव को लक्ष बनाकर उसका उत्साह पैदा कर।

जो पर्याय, शुद्ध स्वभाव का अनुभव करने के लिये अंतरोन्मुख होती है, वह पर्याय, शुद्ध वीतरागभावरूप परिणमित हो जाती है और रागादि से भिन्न परिणमित होती है, तभी सच्चा भेदज्ञान होता है। रागपरिणति शुद्ध स्वभाव में नहीं जा सकती। सत् ऐसा जो आत्मस्वभाव सत्परिणति द्वारा ही प्रतीति में आ सकता है; दोनों एक जाति के होकर तन्मय हो जाते हैं। यही सम्यग्दर्शनादि का मार्ग है।

चमकता हुआ चैतन्यसूर्य और चैतन्यहंस

(परमात्मप्रकाश, गाथा ११९-१२०)

यह आत्मा आनंदस्वरूप चैतन्यसूर्य है, वह कैसे प्रतिभासित हो ? तो कहते हैं कि निर्मल ज्ञान में आत्मा ज्ञात होता है, अर्थात् रागरहित निर्मल ज्ञानपरिणाम में यह चैतन्यसूर्य आत्मा दिखता है। मलिन रागादि भावों से जिसका चित्त मलिन हुआ है, उसे उस मलिन चित्त में आत्मा नहीं दिखता। जैसे बादलों के समूह में छिपा हुआ सूर्य दिखता नहीं है, उसीप्रकार चैतन्य अनुभूति से विरुद्ध ऐसे क्रोध-कामादिक विकारी भावरूप बादलों के बीच छिपा हुआ चैतन्य सूर्य नहीं दिखता। चैतन्य की अनुभूति द्वारा काम-क्रोधादि के विकल्परूप बादलों के छूट जाने पर, निर्मल ज्ञानरूप आकाश में केवलज्ञानादि अनंत गुणों की किरणों से जगमगाता हुआ शुद्धात्मारूपी सूर्य दिखाई देता है।

जैसे मलिन दर्पण में मुख नहीं दिखता, उसीप्रकार राग-द्वेष के साथ मिली हुई मलिन ज्ञान-परिणति में आत्मा अनुभव में नहीं आता। राग के रंग में रंगा हुआ ज्ञान शुद्ध आत्मा को नहीं जान सकता। भेदज्ञान के बल से जहाँ ज्ञान राग से भिन्न परिणमित हुआ, वहाँ उस रागरहित ज्ञान में शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन होता है। अनंत किरणों से चमकता हुआ चैतन्यसूर्य साक्षात् प्रगटरूप है परंतु अज्ञानी को राग की रुचिरूप मलिनता के कारण वह दिखता नहीं। राग से किंचित् भिन्न होकर देखे तो निर्मल ज्ञानदर्पण में आत्मसूर्य स्पष्ट दिखाई दे, उसका साक्षात् स्वसंवेदन हो।

यह चैतन्यसूर्य स्वयं अपनी पर्याय में ज्ञात होता है, वह राग में ज्ञात नहीं होता। राग में चैतन्य का प्रतिबिंब नहीं पड़ता। जो निर्मलपर्याय अंतर स्वभावसन्मुख हुई, उस पर्याय में चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा साक्षात् दिखाई देता है, और उसे देखने से अपूर्व आनंद होता है। परिणति शांत होकर अंतरंग में स्थिर हो, तब भगवान आत्मा दिखे। राग में तन्मयरूप जो परिणति हो, उसमें चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं होते। क्रोधादि से परिणाम डाँवाडोल होते हों, तब ऐसे अशांत परिणाम से आत्मा अनुभव में नहीं आता। निर्विकल्प शांत परिणाम से आत्मा अनुभव में आता है; ऐसे शांत परिणाम में ही आनंद है।

जैसे उज्ज्वल हंस मानसरोवर में निवास करता है और मोतियों को चुगता है, वैसे यह

उज्ज्वल चैतन्य हंस ज्ञानी के निर्मल हृदय-सरोवर में निवास करता है और ज्ञान-आनंद के मोतियों का चारा चरता है, यह हंस राग का चारा नहीं चरता। ज्ञानी के अंतरंग में परम वीतरागी सुखरूपी अमृत से भरा हुआ जो मानसरोवर, उसमें निर्मल गुणों से शोभायमान आत्महंस केलि करता है। हे जीव! तू चैतन्य की परम प्रीति करके उसके आनंद में केलि कर, क्योंकि चैतन्य से जिसे प्रेम नहीं और पर से प्रेम है, वह जीव अपने चैतन्य-सुख का स्वाद नहीं ले सकता। विषयों के स्वाद का प्रेम हो और आत्मा के आनंद का भी स्वाद आवे, इसप्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जहाँ आत्मा के आनंद का स्वाद लिया, वहाँ विषयों से प्रेम रहता ही नहीं। जिसने चैतन्य का स्वाद चखा, उस सम्यग्दृष्टि को राग का रंग नहीं रहता; आत्मा के आनंद के अलावा अन्य कुछ भी उसे प्रिय नहीं है। उसके हृदय में राग को निवास नहीं है; उसके हृदय में तो परमात्मतत्त्व ही वास करता है।

अहो, सर्वज्ञ के मार्ग में आत्मा को साधने का पंथ कोई अलौकिक है! वीतराग का यह पंथ राग से हाथ में आ जाये, ऐसा नहीं है। राग से पृथक् होकर अरागी श्रद्धान-ज्ञान करे तो आत्मा अनुभव में आये और मोक्षमार्ग प्रगट हो। चैतन्य हंस तो इसी मार्ग पर चलनेवाला है.... वह राग के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है। इसप्रकार चैतन्य हंस की प्राप्ति के उपाय का माहात्म्य बताया है। उसे जानकर हे जीव! तू बाह्य विषयों की प्रीति छोड़कर अंतर में निर्मल परिणाम द्वारा अपने शुद्ध आत्मा को देख! रागरहित अकेला ज्ञान, अज्ञानी के लक्ष्य में नहीं आता।

जैसे मुनियों का जीवन स्वानुभवमय है, उसीप्रकार मुमुक्षु का जीवन भेदज्ञान की भावनामय होना चाहिये। भेदज्ञान की भावना का फल स्वानुभव प्राप्ति है। मुमुक्षु अर्थात् मुनि का छोटा भाई। मुनिराज महामुमुक्षु हैं, और यह अभी छोटा मुमुक्षु है। इसका जीवन भी मुनि का अनुसरण करनेवाला होना चाहिये।

ज्ञानी का भेदज्ञान, अज्ञानी की देहबुद्धि

अज्ञानी सच्चे आत्मा को नहीं देखता; ज्ञानी ही अंतर्मुखदृष्टि से सच्चे आत्मा को देखता है। अज्ञानी जीव आत्मा को संयोगवाला और विकारवाला ही देखता है—वह सच्चा आत्मा नहीं है।

[परमात्मप्रकाश प्रवचन, गाथा ८६-८९]

ज्ञानी अपने को देहस्वरूप नहीं जानता, ज्ञानी तो अपने को ज्ञानस्वरूप जानता है। 'मैं ज्ञान हूँ'—ऐसा स्वसंवेदन से वह अनुभव करता है, और ऐसे निजस्वरूप को वह साक्षात् उपादेय जानता है, देहादि संयोग भिन्न होने से उन्हें साक्षात् हेय समझता है।

मिथ्यादृष्टि, जिसे शुद्धचैतन्यतत्त्व का वेदन नहीं है, वह ऐसा जानता है कि मैं मनुष्य, मैं काला, मैं गोरा आदि। ऐसी देहबुद्धि के कारण वह सामनेवाले आत्मा को भी देह से भिन्न नहीं पहिचान सकता। ज्ञानी एक भी परद्रव्य को अपने में नहीं मिलाता, उसके साथ अपना संबंध नहीं मानता; देहादि से साक्षात् भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को निर्विकल्प स्वसंवेदन से सम्यग्दृष्टि अनुभवता है। उसे 'यह मैं हूँ' ऐसी तन्मयबुद्धि ज्ञान-आनंदस्वरूप में ही होती है।

अज्ञानी, जो अपने में नहीं है, उसे अपना समझता है और अपना जो सच्चा स्वरूप है, उसे वह जानता नहीं। ज्ञानी तो स्वसंवेदन के बल से जानता है कि मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, जड़ का अंश मुझमें नहीं है। ज्ञान की, विकल्पों के साथ भी जहाँ एकता नहीं है, वहाँ बाह्य वस्तु की तो बात ही क्या? इसप्रकार धर्मात्मा सारी दुनिया का संबंध छोड़कर स्वतत्त्व सन्मुख होता है।

स्व-पर की भिन्नता को जानता हुआ और अपने को चैतन्यस्वरूप अनुभव करता हुआ ज्ञानी, संयोग की अपनी में खतौनी नहीं करता, अर्थात् स्वयं संयोगाधीन नहीं होता। अज्ञानी तो अपने अस्तित्व को ही देहाति-संयोग में मानता हुआ संयोगाधीन ही परिणमता है, अर्थात् वह मिथ्याबुद्धि से संयोगाश्रित राग-द्वेष रूप ही परिणमता है, वीतरागी स्वसंवेदनरूप आत्मज्ञान उसे नहीं होता।

शरीराश्रित बहुत से भेष (स्वांग) और विकल्प-वह कुछ आत्मा नहीं है, आत्मा तो

एक ज्ञानमात्र है। ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता द्वारा ही वह जानने में आता है। ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप को जाने, तब कहीं पर से सच्चा भेदज्ञान होता है।

जब शरीर ही आत्मा का नहीं है, तब शरीर के नाना भेष जीव के कहाँ से हो सकते हैं? तदुपरांत यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धात्मस्वरूप का साधक ऐसा जो भावलिंग अर्थात् निर्मलपर्याय, उसे शुद्धजीव कहना, वह भी व्यवहार है—क्योंकि वह भी एक अंश है; आत्मा तो अनंत गुणों का अखंड पिंड है। संपूर्ण शुद्ध जीव को एक निर्मल पर्याय से पहिचानना, वह व्यवहार है। मुनि अवस्था, वह आत्मा; प्रमत्त-अप्रमत्त, वह आत्मा—यह भी जहाँ व्यवहार है, वहाँ दिगम्बर शरीर इत्यादि द्रव्यलिंग तो आत्मा कहाँ से होगा? वह असद्भूत अर्थात् आत्मा से पृथक् है, आत्मा की सत्ता में, आत्मा के अस्तित्व में वह द्रव्यलिंग नहीं है।

निर्मलपर्यायरूप जो भावलिंग है, वह यद्यपि आत्मा की ही शुद्धपर्याय है, वह कहीं आत्मा से भिन्न नहीं है; परंतु उस पर्याय के भेद से आत्मा को देखना, वह व्यवहार है; पर्याय को लक्ष्य बनाने से विकल्प उठता है, उससे निर्विकल्प वीतरागी स्वसंवेदन नहीं होता। निर्विकल्प समाधि का विषय अखंड शुद्ध आत्मा है; निर्मलपर्याय का भेद, वह निर्विकल्प समाधि का विषय नहीं है।

हे जीव! आत्मा कैसा है? उसे तूने कभी नहीं जाना। तू कैसा है, तेरा अस्तित्व कितना है - उसे तू लक्ष्य में ले। निर्मल पर्याय शुद्ध आत्मा को साधती है, निर्मल पर्याय साधनरूप होकर शुद्धात्मा को प्रसिद्ध करती है कि 'आत्मा ऐसा है'। इसप्रकार निर्मल पर्याय साधनरूप है और शुद्ध आत्मा उसके द्वारा साध्य है। परंतु राग द्वारा शुद्ध आत्मा साध्य नहीं है। राग शुद्ध आत्मा का साधन नहीं है। शुद्ध आत्मा का साधन उसकी निर्मल पर्याय है, इसलिये व्यवहार से उस पर्याय को शुद्ध आत्मा कहने में आता है। विकार अथवा देहादि की तो जाति ही भिन्न है; इसलिये वह तो उपचार से-व्यवहार से भी शुद्ध आत्मा का स्वरूप नहीं है। शुद्ध आत्मा तो वज्र जैसा विज्ञानघन है—जिसका एक अंश भी कभी न उससे अलग होता, न कभी एक अंश भी कम होता-ऐसा एकरूप शुद्ध आत्मा ही सच्चा आत्मा है, वही निश्चयनय से आत्मा है, वही सम्यग्दृष्टि का आत्मा है। सभी आत्मा ऐसे ही हैं, परंतु सम्यग्दृष्टि ही उसे देखता है, अज्ञानी तो आत्मा को विकारवान तथा संयोगवान ही देखता है, सच्चे आत्मा को वह नहीं देखता; अर्थात् उसे परमातत्त्व प्रकाशित नहीं होता। ज्ञानी को अंतर्दृष्टि से वीतरागी स्वसंवेदन में शुद्ध

परमात्मतत्त्व प्रकाशित होता है। अरे जीव! तूने कभी अपने महान परमात्म तत्त्व को स्वसंवेदन से प्रसिद्ध नहीं किया, उसकी ओर दृष्टि भी नहीं की। संतों ने परम महिमावंत परमात्मतत्त्व प्रसिद्ध कर दिखाया है। स्वसन्मुख होने से पर्याय द्वारा संपूर्ण आत्मा का ज्ञान होता है, परंतु जाननेवाली पर्याय स्वयं संपूर्ण आत्मा नहीं है। वह पर्याय शुद्धात्मा की साधक है अर्थात् वह आत्मा का चिह्न है; उस चिह्न को ही शुद्ध आत्मा कह देना, वह अंश में अंशी का उपचार है, अर्थात् व्यवहार है। और अखंड आत्मा जो निर्विकल्प स्वसंवेदन में आता है, वह परमार्थ है, निश्चय है; ऐसा निश्चय-व्यवहाररूप आत्मा है, उससे बाह्य परभाव अथवा देहादि आत्मा नहीं है। ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है।

सर्वज्ञस्वभाव के यथार्थ निर्णय बिना धर्म उत्पन्न नहीं होता

[श्री रामजीभाई माणिकचंदजी दोशी, एडवोकेट]

श्री जयसेनाचार्य कृत श्री पंचास्तिकाय गाथा ४६ में से -

णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं।
णेयं केवलणाणं णाणा णाणं च णत्थि केवलिणो॥५॥

(केवलणाणं) केवलज्ञान (णेयणिमित्तं) ज्ञेय के निमित्त से (ण होदि) नहीं होहता है (सुदणाणं ण होदि) न श्रुतज्ञान है। (केवलिणो) केवली भगवान के (णाणाणाणं च णत्थि) ज्ञान अज्ञान भी नहीं है, उसे (केवल) केवल (णाणं) ज्ञान (णेयं) जानना योग्य है।

टीका - जो ज्ञान घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का अवलंबन लेकर उत्पन्न नहीं होता, वह केवलज्ञान है। वह श्रुतज्ञानस्वरूप भी नहीं है। यद्यपि दिव्यध्वनि काल में उसके आधार से गणधरदेव आदि को श्रुतज्ञान परिणमित होता है, तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेव आदि को ही है; केवली को तो केवलज्ञान ही होता है। 'पुनश्च-केवली भगवंतों को श्रुतज्ञान नहीं है इतना ही नहीं, किंतु उन्हें ज्ञान-अज्ञान भी नहीं है अर्थात् उन्हें किसी विषय का ज्ञान तथा किसी

विषय का अज्ञान हो, ऐसा भी नहीं है – सर्व विषयों का ज्ञान ही होता है' अथवा उन्हें मतिज्ञानादि अनेक भेदवाला ज्ञान नहीं है – एक केवलज्ञान ही है।

इसका तात्पर्य–—

प्रश्न—किस विकार के लिए कैसा निमित्त हो, यह अनिश्चित है, यह मान्यता झूठी है, ऐसा ऊपर की व्याख्या से जानने में आता है, क्या वह सत्य है ?

उत्तर—वह सत्य है। यदि वैसा नहीं मानने में आये तो केवली भगवान को ज्ञान-अज्ञानदशा है, ऐसा मानना होगा। इसी प्रकार की दशा तो बारहवें गुणस्थान तक होती है। किस प्रकार का विकार हो और उसके लिये कैसा निमित्त हो, यह सब निश्चित ही है। ऐसा नहीं माननेवाले ज्ञेय के स्वरूप को यथार्थ से जानते नहीं हैं, इसलिये यह स्पष्ट है कि वह ज्ञान के स्वरूप को भी यथार्थपने नहीं जान सकते हैं। इस कारण से उसको सम्यग्दर्शनरूपी धर्म भी नहीं होता है, तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्म कहाँ से होवे ?

श्री अमृतचंद्राचार्य ने इसी प्रकार श्री पंचास्तिकाय गाथा २९ एवं उसकी टीका में भी लिखा है, वह निम्न प्रकार है:—

जादो सयं स चेदा सव्वराइ सव्व लोग दरसीयं।
पप्पोदि सुहमणंत अव्वाबाधं सगम भुत्तं॥२९॥

अन्वयार्थ : (सचेतयिता) वह चेतयिता आत्मा (सर्वज्ञः) स्वज्ञ (च) और (सर्वलोकदर्शी) सर्व लोकदर्शी (स्वयं जातः) स्वयं होता हुआ (स्वकम्) स्वकीय (अमूर्तम्) अमूर्त (अव्याबाध) अव्याबाध (अनंतम्) अनंत (सुखम्) सुख को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है।

टीका – जब उसके कर्मक्लेश समस्त विनाश को प्राप्त होते हैं तब, 'आत्मशक्ति अनर्गल (निरंकुश) और असंकुचित होने से, वह असहाय रूप से स्वयमेव युगपद् सब (सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव) जानता है और देखता है तथा स्वाश्रित' मूर्त (इन्द्रियादि) के साथ संबंध रहित, अव्याबाध और अनंत सुख का अनुभव करता है। 'इसलिये सब स्वयमेव जानने और देखनेवाले तथा स्वकीय सुख का अनुभव करनेवाले सिद्ध को पर से (कुछ भी) प्रयोजन नहीं है।'

उपसंहार

१– सर्वज्ञ भगवान अनंत को जानते हैं, किंतु सर्व को नहीं जानते हैं।

२– सर्वज्ञ भगवान अपेक्षित धर्मों को नहीं जानते हैं।

३– जीव का और पुद्गलों का विकार भाव, वह विभावरूप से भी अनित्य है अर्थात् उसका स्वकाल अनिश्चित है, ऐसा जानते हैं।

४– विभावरूप अनियत भाव के निमित्त का स्वकाल अनियत है–अनिश्चित है।

इस प्रकार जिसका ज्ञान है, वह ज्ञान सर्वज्ञ स्वदशा से विरुद्ध है, इसलिए उसको 'दंसण मूलो धम्मो' रूप धर्मांश नहीं होता है तो 'चारित्तं खलु धम्मो' कहाँ से होगा? वह द्रव्यसंयमी हो तो भी प्रथम गुणस्थानवर्ती है, ऐसा निर्णय करना चाहिये। जो ऐसा निर्णय नहीं करते हैं और विपरीत निर्णय करते हैं, उनको किंचित् भी धर्म नहीं होता है।

संत शुद्धात्मा के अनुभव का उपदेश देते हैं, क्योंकि उसी से मोक्षमार्ग होता है। जीवन में फिर नहीं परंतु इसी समय ऐसा अनुभव करने योग्य है। अनुभव जीवन ही सच्चा जीवन है।

हे जीव! अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद स्वानुभव में है, उसका स्वाद ले।

हे जीव! चिंता को छोड़कर आत्मा की साधना कर

अरे, मेरे चैतन्य के आनंद में यह क्लेश कैसा? यह चार गति के दुःख क्यों? इस प्रकार यदि तू दुःख से छूटकर अपने आनंद का अनुभव करना चाहता हो तो अन्य सभी चिंताओं को छोड़कर केवल आत्मा में ही चित्त को लगा। ....सम्यग्दर्शन की चिंता के विकल्प करते रहने से कहीं सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता; आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानकर, उसका चिंतवन करके निर्विकल्प प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन होता है... पर की चिंता का भार अपने ऊपर लेकर आत्मा की शांत अनुभूति नहीं हो सकती... सर्वज्ञ जैसा स्वभाव जहाँ प्रतीति में लिया, वहाँ धर्मी को वैसा परिणमन होने लगा... और वह सिद्ध भगवंतों की पंक्ति में बैठ गया।

[परमात्मप्रकाश का सुंदर प्रवचन]

इस परमात्म-प्रकाश में आत्मा का परमात्मस्वरूप बतलाकर उसके चिंतन का उपदेश दिया है। हे मुमुक्षु! तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है। चार गति के दुःख तेरे आनंद के शत्रु हैं। चैतन्यस्वरूप के संबंध से परम आनंद की प्राप्ति होती है, और पर के संबंध से दुःख होता है। चारों गति के दुःखों का यदि तुझे भय लगा हो तो हे जीव! निश्चिंत होकर तू मोक्ष की साधना कर; इस लोक संबंध चिंताओं को छोड़कर, निश्चिंत होकर परलोक का साधन कर, अर्थात् उत्कृष्ट आत्मस्वरूप का अवलोकन कर।

अरे, मेरे चैतन्य के आनंद में यह क्लेश कैसा? यह चार गतियों के दुःख क्यों? इसप्रकार यदि तू दुःख से छूटकर अपने आनंद का अनुभव करना चाहता हो तो दुःख से भिन्न अपने स्वरूप को पहिचान। मन में जब तक अन्य किसी भी प्रकार का शल्य होगा—चिंता होगी, उपाधि होगी, तब तक चित्त आत्मा में नहीं लगेगा। इसलिये सब चिंता छोड़कर आत्मा में चित्त लगा।

जिसको अपने में रागादि भावों के साथ एकत्वबुद्धि है, वह परभाव से भिन्न आत्मा को

नहीं देखता, दूसरे के आत्मा को भी परभाव से भिन्न नहीं देख सकता। वह निश्चिंत होकर आत्मा का चिंतवन अनुभव नहीं कर सकता।

भाई! तेरे आत्मा में सदा अनंत गुण निवास करते हैं, वे सभी गुण प्रति समय स्वपर्यायरूप कार्य करते हुए परिणमन कर रहे हैं। जो कार्य निजस्वभाव से हो ही रहा है, उसको अन्य साधन द्वारा करूँ, ऐसी बात कहाँ रहती है? सामान्य-विशेषरूप वस्तु है, इसलिये उसका परिणमन प्रति समय हो रहा है, तो उसके परिणमन में कोई दूसरा क्या हस्तक्षेप कर सकता है? उसे जान सकता है परंतु उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसप्रकार स्वाधीन स्वतंत्र स्वरूप जानकर हे जीव! तू अनंत गुणमय अपने स्वरूप का ही चिंतवन कर और अन्य की चिंता छोड़। बाहर की दूसरी चिंताएँ तो दूर रहो; यहाँ तो कहते हैं कि मोक्ष की चिंता भी मत कर। मोक्ष की चिंता करते रहने से कहीं मोक्ष नहीं होता; परंतु विकल्प रहित होकर स्वरूप के चिंतन में रहने से उपयोग की शुद्धि की वृद्धि होते-होते मोक्ष होता है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन के लिये सम्यग्दर्शन की चिंता के विकल्प करने से कहीं सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता, परंतु आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानकर उसका चिंतवन करके, निर्विकल्प प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन होता है।

मोक्ष की इच्छा मोक्ष को रोकनेवाली है, और वह पर्याय वर्तमान में तो अभावरूप है, उस अभाव का चिंतन क्यों? सद्भावरूप जो स्वभाव है, उस स्वभाव का ही चिंतन कर। स्वभाव की अनुभूति होना ही मोक्ष का और सम्यक्त्वादि का एकमात्र उपाय है। चिंता में तो केवल आकुलता है, और इस चिंता से तो कर्म का बंध होता है; इसलिये चिंता करना कोई उपाय नहीं है। इसलिये कहा है कि निश्चिंत पुरुष आत्मा की ही साधना करते हैं। चैतन्य के स्वभाव में चिंता कैसी? विकल्प कैसे? उसकी आराधना से तो चिंता पृथक् हो जाती है; जगत की चाहे जैसी चिंता में भी धर्मी जीव जहाँ अपने स्वभाव के चिंतन में उपयोग लगाता है, वहाँ दुनिया की सभी चिंताएँ चकनाचूर हो जाती हैं। चिंता में तो अशांति है; विकल्परहित शांतचित्त होकर आत्मा का ध्यान करे, तब आत्मा अनुभव में आता है; उस अनुभव में कहीं पर भी चिंता का भार नहीं, पर की चिंता का भार अपने ऊपर रखकर आत्मा की शांत अनुभूति नहीं हो सकती। चिंता का भार हटाकर हलका पुरुष जैसा होकर ज्ञान को अंतर में स्थिर करे, तब आत्मा के शांतरस का अनुभव होता है।

सिद्ध भगवान से अपने को किंचित् भी पृथक् माने तो तू मिथ्यादृष्टि है। एक निमिषमात्र भी जो जीव सिद्धस्वरूप को अपने को पृथक् अनुभव करे, वह मिथ्यादृष्टि है-स्वभाव की उसको प्रतीति नहीं है। जैसे सिद्ध ज्ञाता-दृष्टा, वैसा यह आत्मा ज्ञाता दृष्टा - इसप्रकार के अपने स्वभाव को दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ का ज्ञान समस्त जगत का ज्ञाता है परंतु किसी का भी कर्ता नहीं। ऐसा ही ज्ञानस्वभाव प्रत्येक आत्मा में है। सर्वज्ञ सिद्ध परमात्मा प्रगटरूप से मुक्त हैं, इसी तरह मेरा स्वभाव शक्तिरूप में वैसा ही मुक्त है, ऐसा प्रतीति में लेने से धर्मी को पर्याय में भी वैसा परिणमन प्रगट होने लगा; वह भी सर्वज्ञ के जैसा ज्ञाता-दृष्टा होकर परिणमन करने लगा। सर्वज्ञ को रागादि में कहीं भी कर्तृत्वपना नहीं; उसीप्रकार साधक को भी ज्ञान के परिणमन में राग का कर्तृत्व नहीं। दोनों की जाति एक हो गई, सत्ता भिन्न परंतु जाति एक। अहा! अंतर में सिद्ध प्रभु से जिसकी भेंट हुई, अपने आत्मा को सिद्ध स्वरूप जिसने देखा, उसको पर्याय में सिद्ध जैसा भाव प्रगट न हो, ऐसा हो नहीं सकता। सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा सिद्धों की पंक्ति में बैठ गया। सम्यग्दर्शन की अलौकिक स्थिति की जगत को पहिचान नहीं है।

जिसप्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान में निमित्तरूप लोकालोक हैं, परंतु सर्वज्ञ उनमें किंचित् कहीं पर भी कर्ता नहीं है, उसीप्रकार साधक के अल्पज्ञान में अल्प ज्ञेय निमित्तरूप हैं परंतु सर्वज्ञ की भाँति साधक भी उन पर ज्ञेयों में कहीं कर्ता नहीं है। सर्वज्ञ को पूर्ण ज्ञान और साधक को अल्प ज्ञान, इतना अंतर है, परंतु केवली के समान ही अपने शुद्धात्मा का अनुभव अल्पज्ञान होते हुए भी करता है। उस अनुभव में पूर्ण और अपूर्ण का भेद बाधक नहीं होता। प्रवचनसार गाथा ३३ में आचार्यदेव कहते हैं कि—

जिसप्रकार भगवान केवलज्ञान द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं, उसीप्रकार हम भी श्रुतज्ञान द्वारा केवल आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं। विशेष आकांक्षाओं के क्षोभ से बस होओ; स्वरूप में निश्चलता ही रखना है। देखो, यह साधक की शक्ति! ज्ञान की कितनी शक्ति? ज्ञान भले ही कम (अल्प) हो परंतु वह कहीं भी राग में नहीं रुकता; और कहीं भी रुके बिना स्वरूप में निश्चल रहता है, उसमें केवलज्ञान लेने की शक्ति है। इसलिये हे जीव! तू अल्प-अधिक जानने की आकुलता को छोड़कर स्वानुभव में लग जा। सभी चिंताओं को दूर कर, पूर्ण ज्ञानानंदी निजस्वरूप में उपयोग को लगा, तो तुझे अपने में परम आनंद का अनुभव होगा, और संसार संबंधी समस्त क्लेश दूर हो जावेंगे।●●

अन्तिम सीख

यह राग-आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।
कहाँ रच्यो परपद में, न तेरो पद यहै, क्यों दुख सहै;
अब 'दौल' होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूकौ यहै॥

भावार्थ—यह राग (मोह-अज्ञान) रूपी अग्नि सदा सतत रागी जीवों को जला रही है—दु:खी कर रही है, इसलिये निश्चय भेदविज्ञान-सम्यक् रत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिये, जिस चेतना के प्रकाश से राग-द्वेष-मोह का नाश होता है। अपने को भूलकर मिथ्यात्व, विषय-कषायों का सेवन तू उल्टा पुरुषार्थ द्वारा कर रहा है; अब उसका त्याग करने के लिये नित्य ज्ञानानंदस्वभावी आत्मपद को प्राप्त करना चाहिये। तू किसलिये दु:ख सहन करता है? तेरा वास्तविक स्वरूप अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख और अनंत वीर्य है, उसमें लीन होना चाहिये। ऐसा करने से ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। अत: हे जीव! अब अपूर्वता से निर्मल तत्त्वविचार के बल द्वारा निर्मल भेदविज्ञान की प्रवीणता से आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर। यह उत्तम अवसर बारंबार प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसे न गँवा। शुद्धनय द्वारा नित्य भूतार्थ -स्वतत्त्व का ग्रहण और सांसारिक मोह का त्याग करके शीघ्र मोक्षसुख की प्राप्ति का उपाय कर!

यहाँ विशेष यह समझना कि—जीव अनादि काल से धर्म के नाम पर भी मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दु:खी हो रहा है। इसलिये परमुंह तकना छोड़कर अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकते हैं। [जहाँ तक जगत के सामने देखता रहेगा, तब तक इष्ट-अनिष्ट मानता रहेगा, पर से भला-बुरा मानकर दु:खी होने का उद्यम छोड़ेगा नहीं, निमित्त संयोग तो जगत में सदैव है, जो ऐसा मानता है कि अनुकूल निमित्त चाहिये, पुण्य चाहिये, राग करना चाहिये, व्यवहार चाहिये तो ऐसी वासना तो अनादि अज्ञान से बिना सिखाये थी, नया अपूर्व तत्त्वज्ञान तो किया नहीं, जड़कर्म के उदय से या पर के कारण से हम दु:खी सुखी होते हैं, ऐसा माननेवालों को ज्ञानी अनुभवीजन कहते हैं कि—सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा माने तो पर के कारण दु:ख, दोष माननेरूप महान अनीति संभव नहीं है। अत: पर के द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं, ऐसी श्रद्धा मिथ्या है।]

जिनेन्द्र-दर्शन का भावभरा उपदेश

भगवान की प्रतिमा को देखते ही 'अहो! ऐसे हैं भगवान!' इसप्रकार एक बार भी यदि सर्वज्ञ भगवान का यथार्थ स्वरूप लक्ष में ले ले तो कहते हैं कि तेरा बेड़ा भव से पार है। प्रातः काल भगवान के दर्शन कर अपने इष्टध्येय को स्मरण कर पश्चात् ही श्रावक अन्य प्रवृत्ति करता है। इसीप्रकार आप भोजन करने से पहले हमेशा मुनियों को याद करता है, कि कोई संत-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे घर पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् मैं भोजन करूँ। देव-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रवाह श्रावक के हृदय में बहता है। भाई, प्रातःकाल उठते ही यदि तुझे वीतरागी भगवान का स्मरण नहीं होता, धर्मात्मा संत-मुनियों का स्मरण नहीं होता, और व्यापार-धन्धा और स्त्री-पुत्रादि की याद आती है; तो तू ही विचार कर कि तेरी परिणति किस ओर जा रही है ?

भगवान सर्वज्ञदेव की श्रद्धा सहित धर्मात्मा श्रावक को प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि कर्तव्य होते हैं, उनका यहाँ वर्णन चलता है; जो जीव जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन नहीं करता और मुनियों को भी भक्तिपूर्वक दान नहीं देता, उसका गृहस्थपना पत्थर की नौका के समान भवसमुद्र में डुबो देनेवाला है—ऐसा कहते हैं—

योर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति तद्गृहस्थाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेतिविषमेंमज्जन्ति नश्यन्ति च॥१८॥

सामर्थ्य होने पर भी जो गृहस्थ हमेशा परम भक्ति से जिनपति के दर्शन नहीं करता, अर्चना नहीं करता, स्तवन नहीं करता, तथा परम भक्तिभाव से मुनियों को दान नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रम पद पत्थर की नौका समान है; उस पाषाण नौका समान गृहस्थाश्रम में स्थित हुआ वह मनुष्य अत्यंत भयंकर ऐसे भवसागर में डूबता है और नष्ट होता है।

जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन-पूजन तो श्रावक का प्रतिदिन का कर्तव्य है। प्रतिदिन के छह कर्तव्यों में भी सर्वप्रथम कर्तव्य जिनेन्द्र भगवान का दर्शन-पूजन ही है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा अपने ध्येयरूप इष्टपद को स्मरण कर पश्चात् ही श्रावक अन्य

प्रवृत्ति करता है। इसीप्रकार स्वयं भोजन करने से पूर्व हमेशा मुनियों का स्मरण करता है, कि अहो! कोई संत-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे घर पधारें तो उन्हें भक्तिपूर्वक आहारदान देकर पश्चात् ही मैं भोजन करूँ—इसप्रकार श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का प्रवाह बहता है। जिस गृह में देव-गुरु की भक्ति नहीं है, वह गृह तो पत्थर की नौका समान डुबो देनेवाला है। छट्ठे अधिकार में (श्रावकाचार-उपासकसंस्कार गाथा ३५ में) भी कहा है कि दानरहित गृहस्थाश्रम पाषाण नौका समान है। भाई, प्रातःकाल उठते ही मुझे वीतरागी भगवान का स्मरण नहीं होता, धर्मात्मा संत-मुनियों की याद नहीं आती और संसार के, व्यापार-धंधे की तथा स्त्री-पुत्रादि की याद आती है तो तू ही विचार कर कि तेरी परिणति किस ओर जा रही है?—संसार की ओर अथवा धर्म की ओर? जो आत्मप्रेमी हो, उसका तो जीवन ही देव-गुरुमय हो जाता है।

चलते-फिरते प्रगट हरि देखूँ रे...
अपना जीवन सफल तब लेखूँ रे.... ?

पंडित बनारसीदासजी ने कहा है कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' जिनप्रतिमा में जिनेन्द्र भगवान की स्थापना है, उससे जो जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप जान लेता है, वह जिनप्रतिमा को जिनसमान ही देखता है; उस जीव की भवस्थिति अतिअल्प होती है, अल्प समय में ही वह मोक्ष पाता है। 'षटखंडागम' में (भाग ६, पृष्ठ ४२७ में) भी जिनबिम्ब दर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त कहा है, तथा उससे निद्धत्त और निकाचितरूप मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का भी क्षय होना कहा है, अपनी रुचि में उसे वीतरागी-सर्वज्ञ स्वभाव प्रिय है और संसार की रुचि उसे छूट गई है अर्थात् निमित्तों में भी वीतरागी भगवान जैसे निमित्त के प्रति उसे भक्ति का भाव आता है। जो परम भक्ति से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं करता, उसका मतलब यह हुआ कि उसे वीतरागभाव की ही रुचि नहीं है। उसे संसार-सागर से तिरने का निमित्त अच्छा नहीं लगता, परंतु संसार सागर में डूबने का निमित्त अच्छा लगता है। जिसकी जिस ओर रुचि हो, उस ओर उसकी परिणति का झुकाव हुये बिना रहता नहीं। इसलिये कहते हैं कि वीतरागी जिनेन्द्र भगवान को देखने पर भी जिसके हृदय में उनके प्रति भक्ति का भाव जागृत नहीं होता, जिसे पूजास्तुति का भाव नहीं आता, वह गृहस्थ समुद्र के बीच पाषाण नौका में बैठा हुआ है। नियमसार में पद्मप्रभ मुनि कहते हैं कि हे जीव!

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न शमस्ति ?
तर्हि भवाम्बुधिमध्य ग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

भवभय को भेदन करनेवाले ऐसे इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? यदि नहीं है तो तू भवसमुद्र के बीच मगर के मुख में है।

अरे ! बड़े-बड़े महान मुनि भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे ऐसा भाव नहीं आता तथा अकेले पाप में ही रचापचा हुआ रहता है तो तू भवसमुद्र में डूब जायेगा, भैया ! इसलिये तुझे इस भवदु:ख के समुद्र में नहीं डूबना हो और उससे तिरना चाहता हो तो संसार की ओर का अपना झुकाव बदलकर वीतरागी देव-गुरु की ओर तू अपने परिणाम को ले जा; तो भवसमुद्र से तुझे मुक्ति मिलेगी।

भगवान की मूर्ति में 'यह भगवान है,' ऐसा स्थापना-निक्षेप वास्तव में सम्यग्दृष्टि को ही होता है; क्योंकि प्रमाणज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है, प्रमाणपूर्वक सम्यक् नय होता है, और नय के द्वारा सच्चा निक्षेप होता है। निक्षेप, नय के बिना नहीं होता; नय प्रमाण के बिना नहीं होता; और प्रमाण, शुद्धात्मा की दृष्टि हुए बिना नहीं होता। वाह, देखो तो सही, यह वस्तुस्वरूप ! जैनदर्शन की एक ही धारा चली आती है, भगवान की प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे हैं भगवान !' इसप्रकार एक समय भी यदि सर्वज्ञ भगवान का यथार्थ स्वरूप लक्षगत किया, तो कहते हैं कि तेरा बेड़ा भव से पार है।

यहाँ मात्र दर्शन करने की बात नहीं की है, परंतु प्रथम तो 'परम भक्ति' से दर्शन करने को कहा है, उसीप्रकार अर्चन (पूजन) और स्तुति करने के लिये कहा है, सच्ची समझ पूर्वक ही परम भक्ति जागृत होती है; और सर्वज्ञ भगवान की सच्ची पहिचान हो, वहाँ आत्मस्वभाव लक्षगत हो जाता है और उसे दीर्घ संसार हो ही नहीं सकता। इसप्रकार भगवान के दर्शन की बात में भी गहरा रहस्य है। मात्र ऊपर से ऐसा मान ले कि स्थानकवासी लोग मूर्ति को नहीं मानते और हम दिगम्बर जैन मूर्ति को मानते हैं - ऐसे रूढ़िगत भाव से दर्शन करे, तो उसे सच्चा दर्शन नहीं कहा; सर्वज्ञ भगवान की पहिचान सहित दर्शन करे, तभी सच्चा लाभ हो। (इस बात को 'सत्ता स्वरूप में' बहुत विस्तार से समझाया है)।

भाई ! तू आत्मा के दर्शन करना तो नहीं जानता और आत्मा का स्वरूप देखने के लिये दर्पण समान जिनेन्द्र भगवान के भी तू दर्शरून नहीं करता, तो तुझे कहाँ जाना है ? भाई ! जिनेन्द्र

भगवान के दर्शन-पूजन न करने पर भी तू अपने को जैन कहता है, यह तेरा जैनत्व कैसा? जिस गृह में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु का दर्शन-पूजन होता है, मुनि आदि धर्मात्मा पुरुषों को आदरपूर्वक दान दिया जाता है-वह गृह धन्य है; और इन सबसे रहित घर तो श्मशानतुल्य है। अरे! वीतरागी संत इससे अधिक क्या कहें? ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई, समुद्र के गहरे पानी में ले जाकर उसे तिलांजलि दे देना, नहीं तो वह तुझे डुबो देगा।

धर्मात्मा जीव प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शनादि करता है। जिसप्रकार संसार के रागी जीव स्त्री-पुत्रादि के मुँह को अथवा फोटो को बड़े प्रेम से देखते हैं, उसीप्रकार धर्म के रागी जीव वीतरागी-प्रतिमा के दर्शन भक्ति से करते हैं। जिसे राग की दिशा भी नहीं बदलते आती, वह वीतरागमार्ग को कैसे प्राप्त करेगा? जैसे प्रिय पुत्र-पुत्री को न देखे तो उसकी माता को चैन नहीं पड़ता, अथवा माता को न देखे तो बच्चे को चैन नहीं पड़ता, उसीप्रकार धर्मात्मा को भगवान के दर्शन किये बिना चैन नहीं पड़ता। 'अरे रे! आज मुझे परमात्मा के दर्शन नहीं हुए, आज मैंने अपने भगवान को नहीं देखा, आज मुझे अपने प्रिय नाथ के दर्शन नहीं हुए!'—इसप्रकार धर्मात्मा को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ता। (जैसे चेलना रानी को राजा श्रेणिक के राज में पहले चैन नहीं पड़ता था उसीप्रकार) अंतर में अपने धर्म में लगन है और पूर्णावस्था को प्राप्त करने की भावना है अर्थात् पूर्णावस्था को प्राप्त हुए भगवान से मिलन के लिये धर्मात्मा की तीव्र अभिलाषा है; साक्षात् तीर्थंकर के वियोग में उनकी वीतराग प्रतिमा को भी भगवान समान ही समझकर भक्ति के दर्शन-पूजन करता है, और बहुमान से वीतराग की तो ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखनेवाले के भी रोम-रोम उल्लसित हो जायें। इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, मुनियों की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याया, संयम, तप, दान में श्रावक प्रतिदिन वर्तता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि शक्ति होने पर भी जो प्रतिदिन जिनदेव के दर्शन नहीं करता, वह तो श्रावक ही नहीं; वह तो पाषणा नौका में बैठकर भवसागर में डूबता है। तब फिर जो वीतराग-प्रतिमा के दर्शन-पूजन का निषेध करता है, उसकी तो बात क्या करें? उसमें तो जिनमार्ग की बहुत विराधना है। अरे! सर्वज्ञ को जैसी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, वैसी परमात्मदशा से जिसे प्रेम हो, उसे उनके दर्शन का उत्साह आये बिना कैसे रहेगा? वह तो प्रतिदिन भगवान के दर्शन कर अपनी परमात्मदशारूप ध्येय को प्रतिदिन ताजा करता है।

भगवान के दर्शनों की भाँति धर्मात्मा को मुनियों के प्रति भी परम भक्ति होती है। भरत

चक्रवर्ती जैसे महान पुरुष भी मुनियों को भक्तिभाव से आदरसहित आहारदान देते थे, और अपने आंगन में मुनिराज पधारें, तब अपने को धन्य मानते थे। अहो! मोक्षमार्गी मुनियों के दर्शन भी कहाँ से हों!! यह तो धन्य भाग्य और धन्य घड़ी! मुनियों के विरह में किसी बड़े धर्मात्मा के प्रति ऐसे बहुमान का भाव आता है कि अहो, धनभाग्य, मेरे आँगन में धर्मात्मा का पदार्पण हुआ। इसप्रकार धर्मोत्साह से धर्मीश्रावक मोक्षमार्ग को साधता है; और जिसे धर्म के प्रति इतना प्रेम नहीं है, वह संसार में परिभ्रमण करता है।

कोई कहता है कि मूर्ति तो पत्थर की है? परंतु भाई, उसमें ज्ञानबल से परमात्मा का निक्षेप किया है कि 'यह परमात्मा हैं', उस निक्षेप को अस्वीकार करना, वह ज्ञान को ही अस्वीकार करना है। जिनबिम्बदर्शन को तो सम्यग्दर्शन का निमित्त माना गया है, उस निमित्त का जो निषेध करता है, उसे सम्यग्दर्शन की भी खबर नहीं। समन्तभद्रस्वामी तो कहते हैं कि—हे जिन! मुझे तो आपकी स्तुति करने का व्यसन लग गया है। जैसे कोई व्यसनी मनुष्य अपनी व्यसन की वस्तु के बिना नहीं रह सकता; उसीप्रकार सर्वज्ञ के भक्तों को भी उनकी स्तुति का व्यसन होता है, इसलिये भगवान की स्तुति-गुणगान किये बिना वे रह नहीं सकते। धर्मात्मा के हृदय में सर्वज्ञ भगवान के गुणगान अंकित हो गये हैं। अरे! साक्षात् भगवान को देखना, उसकी भी बलिहारी है, कुन्दकुन्दाचार्य ने विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधरनाथ भगवान को साक्षात् देखा, उनकी तो बात ही क्या! यहाँ तो अभी ऐसा काल नहीं है। अरे! तीर्थंकरों का विरह, केवलियों का विरह, महासंत मुनियों का भी अभी विरह है, इस काल में जिनप्रतिमा के दर्शन से भी धर्मात्मा जीव भगवान के स्वरूप का स्मरण करता है।

इसप्रकार जिसे वीतरागी जिनमुद्रा का उल्लास नहीं आता, वह जीव संसार की तीव्र रुचि के कारण भवसमुद्र में डूबेगा। वीतराग भगवान का भक्त तो वीतरागदेव का नाम सुनकर और उनके दर्शनकर हर्षित हो जाता है। जिसप्रकार विनयवान पुत्र प्रतिदिन सवेरे माता-पिता के पास जाकर विवेक से चरण छूता है; उसीप्रकार धर्मात्मा जीव बालक की भाँति प्रभु के पास जाकर विनयपूर्वक प्रतिदिन धर्मपिता-जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करता है; स्तुति पूजादि करता है; मुनियों को भक्ति से आहारदान देता है। ऐसे वीतरागी देव-गुरु की भक्ति से रहित जीव मिथ्यात्व की नौका में बैठकर चारों गतियों के समुद्र में गोते खाता है, और अमूल्य मनुष्य-जीवन को नष्ट करता है। इसलिये धर्म प्रेमी जीव को देव-गुरु की भक्ति के कार्यों में सदा अपने धन का तथा जीवन का सदुपयोग करना चाहिये।—ऐसा उपदेश है।●●

'वैराग्यवान् हाथी'

लंका का राजा रावण.... इसके पास लाखों हाथी, उनमें सबसे प्रधान हाथी का नाम त्रिलोकमंडन! राजा रावण ने सम्मेदशिखर के पास के मधुवन में से इसको पकड़ा था।

बाद में तो श्री राम और रावण के बीच बड़ी लड़ाई हुई... रावण मारा गया! श्री राम जीते; और त्रिलोकमंडन हाथी को लेकर सब अयोध्या आये। यह हाथी बहुत पुण्यवान! बहुवैरागी! और बहुत संस्कारी!

भरत को यह हाथी बहुत प्यारा और इस हाथी को भी भरत के ऊपर बहुत प्यार, एक बार यह हाथी बिफर कर भागा और हाहाकार मच गया, परंतु भरत को देखते ही वह शांत हो गया, हाथी को पूर्वभव याद आया, भरत ने उसे वैराग्य का उपदेश दिया।

एक बार देशभूषण और कुलभूषण नाम के दो केवली भगवंत अयोध्या आये; रामचंद्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न सभी त्रिलोकमंडन हाथी पर बैठकर उनके दर्शन करने गये। भगवंतों को देखकर चारों भाई प्रसन्न हुए, हाथी भी खुश हुआ। वहाँ भगवान का उपदेश सुनकर भरत ने तो दीक्षा ले ली। हाथी को भी वैराग्य हो गया और उसने सम्यग्दर्शन के साथ व्रत अंगीकार किये। इसने आभूषण छोड़ दिये। पन्द्रह-पन्द्रह उपवास किये। इस वैरागी हाथी को पारणा नगरजनों ने भक्तिपूर्वक कराया।

हाथी जैसा प्राणी भी कितना धर्मसाधन कर सकता है, और धर्मात्मा श्रावकों को कैसा वात्सल्य भाव उत्पन्न होता है-वह हमें स्वाध्यायमंदिर का चित्र बतला रहा है।

विविध वचनामृत

[आत्मधर्म का चालू विभाग : लेखांक - १४]

(१९१) शत्रु

निर्मल ज्ञान-वैराग्य द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान करके विषय-कषायरूप शुभ को जो मार भगावे, वही परमात्मा का आराधक है। विषय-कषाय ये शुद्धात्मा के शत्रु हैं; उनका जो नाश नहीं करता, वह शुद्धात्मा का आराधन किसप्रकार कर सकता है ? (वह आराधक कैसा ?) (कषाय में मिथ्याश्रद्धान आ गया)। स्वरूप की वही आराधना कर सकता है कि जिसको विषय-कषाय की किंचित्मात्र भी रुचि नहीं है। सर्व दोषों से रहित ऐसे निज परमात्मतत्त्व की आराधना में घातक मुख्य तो राग की रुचि है।

(१९२) दो मित्र

आत्मा के निजस्वरूप की आराधना में सहायक दो मित्र हैं—एक वैराग्य, दूसरा तत्त्वज्ञान; विषय-कषाय की निवृत्तिरूप शुद्धात्मा की अनुभूति परम वैराग्यरूप है; और निर्दोष तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसा वैराग्य होता है। परभावों से अतिविरक्तिरूप वैराग्य हुए बिना स्वानुभूति नहीं होती। जब समस्त परभावों से वैराग्य हो अर्थात् परभावों से परिणति विमुख होकर स्वभावोन्मुख हो; तभी तत्त्वज्ञान सच्चा हो सकता है, और जब स्वसन्मुख परिणति से सम्यक्तत्त्वज्ञान होता है, तभी परभावों से सच्ची विरक्तिरूप वैराग्य उत्पन्न होता है।—इसप्रकार वैराग्य और तत्त्वज्ञान दोनों परस्पर एक-दूसरे के मित्र हैं। स्वरूप की साधना करनेवाले जीव के यह दो मित्र परम सहायक हैं; इनके द्वारा ध्यान और वीतरागी समाधि प्राप्त होती है।

(१९३) सच्चा रक्षक

मेरा सहज स्वभाव मेरे द्वारा ही रक्षित है, इस स्वभाव के आश्रित उत्पन्न हुई निर्मल परिणति भी स्वयं मुझसे ही रक्षित है, किसी प्रकार की प्रतिकूलता अथवा रागादि भाव इसका विनाश नहीं कर सकते; अर्थात् कोई मेरी रक्षा नहीं करेगा—ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होता। स्वभाव की ओर गई हुई मेरी परिणति का कोई भी विनाशक नहीं है। स्वयं रक्षित को भय कैसा ? अन्य रक्षक की आधीनता कैसी ? अरे, राग मुझमें प्रवेश करके मेरे स्वभाव का विनाश कर देगा—ऐसा अरक्षा का भय ज्ञानी को है ही नहीं, क्योंकि राग को स्वभाव से पृथक् ही जाना

है। राग को स्वभाव में एकाकार रूप से प्रविष्ट ही नहीं होने देता; इसलिये वह राग से पृथक् सहजज्ञान का प्रतिसमय अनुभव करता है, इसकारण नि:शंक और निर्भय है। प्रतिकूलता का आक्रमण होगा तो कौन मेरी रक्षा करेगा ?—ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होता। मैं ही अपना रक्षक हूँ। मेरा आत्मा स्वयं ही अपनी रक्षा करनेवाला है।

(१९४) पथिक

मोक्ष का पथिक यह आत्मा, देहरूपी वृक्ष की छाया में किंचित् विश्राम हेतु ठहरा है... अंत में तो इसको त्यागकर सिद्धालय में जाना ही है। जिसप्रकार पथिक वृक्ष को अपना नहीं मानता, उसीप्रकार मोक्ष का पथिक देह को अपना नहीं मानता।

(१९५) धर्म का फल: —आनंद

सम्यग्दर्शन होने से आनंद का अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी नि:शंकरूप से यह मानता है कि ऐसा पूर्ण आनंद है, वह मैं ही हूँ। जहाँ अपना आनंद अपने में देखा; उसका स्वाद लिया, वहाँ पर में कहीं सुखबुद्धि ज्ञानी को नहीं रहती। आत्मा के आनंद का वेदन ही मुख्य वस्तु है, वही धर्म का फल है। बाह्य संयोग की प्राप्ति होना, वह धर्म का फल नहीं है। धर्म के फलरूप आनंद का धर्मीजीव नि:शंकता से अपने में अनुभव करता है।

(१९६) श्रद्धा की टंकार

अरे जीव! श्रद्धा की एक टंकार से सर्वज्ञता प्राप्त करे—ऐसा तू है। फिर भी तू इतना निर्बल बन गया कि एक सैकेण्ड भी बिना विकल्प के नहीं रह सकता। अपने निर्विकल्प विज्ञानघन के अत्यंत मधुर आनंद का स्वाद लेने के लिये एक क्षण तो विकल्प से पृथक् हो! एक बार तो श्रद्धा की टंकार लगा दे।

(१९७) विश्राम

विकल्प में कहीं भी विश्राम नहीं है।

चैतन्य की अनुभूति में ही विश्राम है।

(१९८) अंतर्मुख परिणति

– स्ववस्तु की दृष्टि होते ही धर्मी को जो अंतर्मुख परिणति हुई, वह शुद्ध निर्विकल्प है।

– वह 'अंतर्मुख परिणति' और 'बहिर्मुख विकल्प' दोनों वस्तुएँ पृथक् हो गईं।

– अब जो अंतर्मुख परिणति का कर्ता होकर परिणमित हुआ, वह बहिर्मुख विकल्प

का कर्ता क्यों होगा ? .....नहीं हो सकता।

– और जहाँ बहिर्मुख राग का भी कर्तृत्व नहीं है, वहाँ बाह्य परद्रव्यों की क्रिया के कर्तृत्व की तो बात ही कहाँ रही ?

(१९९) धर्मी जीव की परिणति मंगलरूप है

– अंतर्मुख परिणति द्वारा जो धर्मी जीव शुद्धभाव में तन्मय होकर परिणमित हुआ, वह अब अशुद्धात्मा में तन्मय क्यों होगा ? .....नहीं हो सकता।

– और अशुद्धता में भी जो तन्मय न हो, वह जड़ के साथ तन्मयता क्यों मानेगा ? .....नहीं मानेगा।

– इसप्रकार अंतर्मुख परिणति द्वारा धर्मी जीव परभावों का अकर्ता ही है।

इसका नाम भेदज्ञान है और धर्मी जीव की ऐसी परिणति, वह मंगल है।

(२००) धर्मात्मा का जीवन

स्वानुभूति, वह धर्मात्मा का सच्चा जीवन है। यदि तुझे धर्मात्मा के अंतर का सच्चा जीवन चरित्र जानना हो तो उनकी स्वानुभूति को पहिचान।

स्वानुभूति को जाने बिना धर्मात्मा का जीवन नहीं पहिचाना जा सकता।

स्वसन्मुख परिणाम के समय

—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कब होती है ?

— कि स्वसन्मुख होकर उसे उपादेय करे तब !

—शुद्धात्मा उपादेय कब होता है ?

— कि स्वसन्मुख परिणाम में उसे प्राप्त करे तब !

अर्थात् शुद्धात्मा की प्राप्ति का काल और उसको उपादेय करने का काल एक ही है। स्वसन्मुख परिणाम के समय शुद्धात्मा उपादेय होता है और उसकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार स्वसन्मुख परिणाम में इस सबका समावेश हो जाता है। जो परिणाम स्वसन्मुख होकर परिणमित हुए, वे परिणाम समस्त परभावों से निवृत्त हो चुके हैं।

रात्रि चर्चा का संक्षिप्त विवरण

वर्तमान चर्चा में अनेक प्रकार के सुंदर-सुंदर न्याय आते हैं। स्वामीजी प्रमोद से जिनशासन का रहस्य और 'ज्ञानी' के ज्ञान की निर्मलता की विशेष महिमा बारंबार समझाते हैं, वह सुनते हुए सभाजनों का रोम-रोम उल्लसित हो जाता है। मंगसर सुदी ११ की रात्रि चर्चा में सर्वज्ञ-स्वभाव को लक्ष्य में रखकर बहुत से न्यायों का वर्णन किया। जिनशासन की महिमा का विशेष वर्णन किया... मुमुक्षुओं को सर्व पहलुओं से अपना दृढ़ निर्णय करना चाहिये। और निर्णय इतना स्वच्छ होना चाहिये कि किसी प्रकार की विपरीतता न रहे।

स्वामीजी ने सभासदों को संबोधित करके पूछा—

केवली भगवान एक ओर तो ऐसा कहते हैं कि जिस समय जैसा होने का मैंने केवलज्ञान में देखा है, उस समय वैसा ही होता है; और इधर 'नियतवाद अर्थात् जिस समय जो नियत है, वही होता है' ऐसी मान्यतावाले को मिथ्यात्वी कहते हैं; तो फिर इन दोनों का मेल किसप्रकार? तथा इसका समाधान किसप्रकार से है? ऐसा सभाजनों में बहुतों से पूछा गया... और अंत में आपने ही उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि केवली भगवान ने जिस समय जो पर्याय होने की है उसको देखा, वहाँ उस अकेली पर्याय को ही नहीं देखा, परंतु उसके साथ वस्तुस्वभाव को भी देखा, और उस-उस पर्याय के साथ योग्य पुरुषार्थ भी देखा है, वस्तु के अनंत स्वभाव को एक साथ देखा है। इन सभी की स्वीकृति स्वसन्मुखता सहित जिसको हो, वह **'सर्वज्ञ ने देखा, वैसा होता है'** यह बात समझ सकता है और इस प्रकार जो समझे, उसे तो पूर्ण स्वभाव का स्वीकार होने से स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ पैदा हुआ ही है। वह तो 'ज्ञाता' होकर सभी स्वीकार करता है, अर्थात् उसको नियत-एकांतपना नहीं रहता। उसे तो पुरुषार्थ, स्वभाव, स्वकाल—इत्यादि अनंत धर्म एक साथ परिणमन कर रहे हैं।

उत्पाद-व्ययरूप कितनी ही पर्याय तो नियत और कितनी ही अनियत, इसप्रकार से भगवान ने नहीं देखो; परंतु नियत के साथ नियत के अतिरिक्त अन्य भी—स्वभाव, पुरुषार्थ इत्यादि सभी भावों को भगवान ने देखा है, इसलिये जो सभी भावों को एकसाथ स्वीकार करता है, उसको एकांत नियतपना नहीं रहता, उसको तो सच्चा अनेकांतपना हो गया है। अनंत धर्मवाली वस्तु को स्वीकार करता हुआ वह स्वयं ज्ञाता रहकर ही परिणमन करने लगा; राग

को करूँ, ऐसा उसके ज्ञानभाव में रहा नहीं। अकेला-मात्र नियत को ही माने और उसके साथ का स्वभाव, पुरुषार्थ इत्यादि भाव न माने, उसने भगवान के कहे हुए भावों को जाना नहीं है, उसने तो अपनी कल्पना से ही एक भाव एकांत ग्रहण कर लिया। इसलिये उस एकांती नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा गया; वैसे तो अकेले स्वभाववादी को भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है, एकांत पुरुषार्थवादी को भी मिथ्यादृष्टि कहा—इसका अर्थ क्या ? कि सभी भाव जबकि एकसाथ वस्तु में होते हुए भी उनको जो स्वीकार नहीं करता और किसी एक ही भाव का ही एकांत पकड़ लेता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है परंतु सर्वज्ञदेव ने वस्तु में एकसाथ देखे हुए अनेक भावों (पुरुषार्थ, स्वभाव, नियत आदि) को जो एकसाथ स्वीकार करता है, उसका तो निर्णय सच्चा ही है और वस्तुस्वरूप को स्वीकार करते ही परिणति ने अंतर स्वभाव में मग्न होकर निजकार्य करना प्रारंभ कर दिया है। वस्तु स्वभाव का अगाध सामर्थ्य प्रतीति में स्वीकार किया, वहाँ वह स्वीकार करनेवाली परिणति स्वयं भी अगाध सामर्थ्यवाली हो चुकी है। अगाध सामर्थ्य ज्ञान में प्रगट हो गया है। केवलज्ञान में तो अपार सामर्थ्य है परंतु इसका निश्चय करनेवाले मति-श्रुतज्ञान में भी वर्तमान में अगाध महिमा प्रगट हुई है। उसको अंतर में अपना कार्य हो ही रहा है।

ज्ञानी के स्वयं की आत्मा में कार्य की साधना चालू है। वहाँ अन्य भी उसको जाने-माने, इसकी क्या आवश्यकता रही ? अर्थात् अन्य को दिखलाना या कहने का कहाँ रहता है। इसलिये ज्ञानी के भाव अन्य को दिखलाने-बतलाने के होते ही नहीं। जगत को राजी करने या जगत से राजी होने के लिये ज्ञानी कुछ भी नहीं करता।

अहो, जिस ज्ञान के अंतर में 'अच्छा' हो ही रहा है, स्वयं अपना 'अच्छा' कर ही रहे हैं-वहाँ 'यह ठीक कर रहे हैं' ऐसा अन्य जान जाये तो अच्छा ऐसा कहाँ रहता है ? अन्य को दिखलाने का क्या काम है ? हमारा कार्य अंदर चल रहा है ! अन्य जीव स्वयं ऐसा ठीक करेंगे, तब उसको पहिचान लेंगे। यहाँ जैसी ज्ञानदशा है, ऐसी समक्ष व्यक्ति के समझ में आवेगी तथा उसको पहिचान लेगा—कि ठीक, इनको ऐसा हुआ है। शेष अन्य तो क्या पहिचानेंगे ? अन्य उसके जैसे हो जायें, तभी तो उसको पहिचान सकते हैं।

'अहो! जिनशासन!! वाह! वाह! तेरी बलिहारी है! तेरे रहस्य अत्यंत गहराई सहित हैं।'

अहो हो! ऐसी महिमा आवे परंतु वह तो स्वयं अपनी अपने में है। अहो हो! का उच्चारण करके किसी अन्य को बतलाने का भाव नहीं। कैसा गंभीर तत्त्व! यह तो स्वयं अपना स्वयं को कर लेने का है। अंदर से अ हो हो! का उच्चारण प्रगट हुआ (अर्थात् अपूर्व कार्य किया) वहाँ अन्य उसको 'अहो हो' कहे-तो संतोष हो, ऐसा कुछ भी नहीं, इसका संतोष तो अपने से ही है; अपने अनुभव का संतोष अपने में ही है।

अहा! इस वस्तु स्वभाव की बात को जिसने स्वीकार किया, **मैं ज्ञान हूँ**—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसको भविष्य के अल्प भव ही होते हैं। इसमें तो मोक्ष का निर्णय है, आत्मा का निर्णय है, इसप्रकार यह मुख्य प्रयोजनभूत बात है।

इसप्रकार स्वभाव की महिमा के वर्णन सहित अनेक चर्चाएँ हुईं। उसकी यह तो मात्र संक्षिप्त यादगार है।

परम शांतिदायिनी—

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेख माला : लेख नं० ३४]

(अंक २७० से आगे)

भगवान श्री पूज्यपादस्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
पूज्य गुरुदेव के अध्यात्म-भावना भरपूर
वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार,
वीर सं० २४८२ श्रावण कृष्णा तीज गाथा :६२

जीव जब तक शरीरादिक में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति करता है, तभी तक संसार है; और भेदज्ञान होने पर वह प्रवृत्ति मिट जाती है एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है-ऐसा अब कहते हैं—

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृत्तिः ॥६२॥

काय-वचन और मन, यह तीनों मैं हूँ—इसप्रकार जहाँ तक स्वबुद्धि से जीव उसको ग्रहण करता है, तब तक मिथ्याबुद्धि के कारण उसे संसार है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि

मुझसे पृथक् हैं—ऐसे भेदज्ञानपूर्वक भेद के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

मैं ज्ञाता चिदानंदस्वरूप हूँ—इसप्रकार जो अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण नहीं करता और मैं शरीर, मन, वाणी हूँ—इसप्रकार ग्रहण करता है, वह मूढ़ जीव बहिरात्मा है; जब तक शरीरादिक को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, तभी तक संसार है। और मैं तो चिदानंद ज्ञानमूर्ति हूँ, शरीर-मन-वाणी मैं नहीं, यह सब मुझसे भिन्न हैं—ऐसे भेदज्ञान के अभ्यास से संसार की निवृत्ति होती है।

जड़ के साथ एकत्वबुद्धि, वह संसार का कारण है; और भेदज्ञान का अभ्यास—अर्थात् देहादि से अत्यंत भिन्न ऐसे चैतन्यतत्त्व की बारंबार भावना, वह मुक्ति का उपाय है। भेदज्ञान से ही मोक्ष के उपाय का प्रारंभ होता है और पश्चात् भी भेदज्ञान की भावना से ही मुक्ति होती है।

नियमसार में कहते हैं कि—'ऐसे भेद का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है, इससे चारित्र होता है।' भेदज्ञान ही मोक्ष का कारण है। समयसार में कहा है कि जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो जीव बँधे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं। अत:

भावयेत्भेदविज्ञानंइदमच्छिन्नधारया।
तावत् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अच्छिन्नधारा से इस भेदज्ञान की तब तक भावना करनी चाहिये कि—जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में ही लीन न हो जाये।—देखो, ऐसे भेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। जो अभी तो ऐसा मान रहा है कि देह-वाणी, वह मैं हूँ; उनका काम मैं करता हूँ—वह तो देह से भिन्न आत्मा का ध्यान कब करेगा? और उसको समाधि या मोक्षमार्ग कहाँ से होगा? वह तो पर में लीन होकर संसार में भटकेगा।

आत्मा तो स्व-पर प्रकाशक ज्ञाता है। यह आँख तो जड़ है, वह कुछ देखती नहीं; यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी सब जड़ हैं, ये कोई आत्मा नहीं हैं; आत्मा तो अपने ज्ञान-आनंदस्वरूप है—इसप्रकार जिसके श्रद्धा-ज्ञान चारित्र में पर से भिन्न चैतन्यतत्त्व का स्वीकार है, वह जीव मुक्ति को प्राप्त करता है और परद्रव्यों को जो एकत्वबुद्धि से ग्रहण करता है, वह संसार में भटकता है।

शरीर-मन-वाणी को ही जो अपना स्वरूप मानता है, उसे शरीरादि जड़ से भिन्न अपना ज्ञान-आनंदस्वरूप भासित नहीं होता, अर्थात् शरीरादिक पर दृष्टि होने से उसको सदा

असमाधि ही रहती है। ज्ञानी तो जानता है कि देह-मन-वाणी किसी के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है; उनका चाहे जो हो, मैं तो ज्ञान-आनंदस्वरूप ही हूँ—इसप्रकार भान में-जागृति में चैतन्यस्वरूप के आश्रय से धर्मी को समाधि होती है। शरीर में रोग आये या निरोगी रहे—उन दोनों दशाओं में मैं तो उनसे भिन्न ही हूँ। इसप्रकार भिन्नता जानकर ज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता है। अजीव के एक अंश को भी अपना नहीं मानता; इसलिये वह चैतन्यस्वभाव में लीन होकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इसप्रकार भेदज्ञान को मोक्ष का कारण जानकर, हे जीव! तू निरंतर उसका उद्यम कर॥६२॥

शरीरादिक के साथ एकताबुद्धि, वह संसार का कारण है और शरीर से भिन्न चिदानंदस्वरूप का यथार्थ ज्ञान, वह मोक्ष का कारण है। अब, धर्मात्मा को शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान कैसा होता है, वह दृष्टांतपूर्वक समझाते हैं:—

जिसप्रकार शरीर और वस्त्र दोनों पृथक् हैं; उसीप्रकार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न हैं। धर्मात्मा को वस्त्र की भाँति यह शरीर अपने से प्रगट भिन्न भासित होता है—यह बात चार गाथाओं द्वारा अति सरलता से समझाते हैं:—

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥६३॥

जिसप्रकार लोक में मनुष्य, मोटा वस्त्र पहिने हो तो वहाँ अपने को मोटे वस्त्ररूप नहीं मानते; उसीप्रकार आत्मा के ऊपर यह शरीररूपी वस्त्र है; वहाँ मोटे शरीर के कारण बुद्धिमान पुरुष अपने को उस शरीररूप पुष्ट नहीं मानते। जिसप्रकार मोटे वस्त्र से कहीं शरीर की पुष्टि नहीं है, उसीप्रकार पुष्ट शरीर से कहीं आत्मा की पुष्टि नहीं।

इसप्रकार ज्ञानी प्रगटरूप से अपने आत्मा को शरीर से बिल्कुल भिन्न देखते हैं। आत्मा का शरीर तो नित्य असंयोगी ज्ञान एवं आनंदमय है, यह जड़ शरीर, अनित्य और संयोगी होने से कहीं आत्मा का नहीं है। शरीर और वस्त्र तो दोनों जड़ हैं और यहाँ शरीर तथा आत्मा—दोनों की जाति ही भिन्न है; आत्मा तो चैतन्यमूर्ति है और शरीर, अचेतनमूर्ति है—इसप्रकार दोनों का स्वभाव ही भिन्न है। वस्त्र के परमाणु पलटकर कदाचित् शरीररूप हो भी जाये, परंतु शरीर पलटकर कदापि आत्मारूप नहीं होता, और आत्मा कभी शरीररूप जड़ नहीं होता; दोनों की जाति ही अत्यंत भिन्न है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को चेतनरूप ही देखते हैं। जड़ शरीर को कभी अपनेरूप नहीं देखते। देखो, बिल्कुल सरल दृष्टांत देकर शरीर और आत्मा की भिन्नता समझाई

है। वस्त्र तो अनेक बदलते हैं, परंतु शरीर तो वह का वही रहता है उसीप्रकार, शरीर अनेक बदले, तथापि आत्मा तो वह का वही है। यदि शरीर ही आत्मा हो तो उसके नाश होने से आत्मा का नाश होना चाहिये; शरीर की पुष्टि होने से आत्मा के ज्ञानादि की पुष्टि होना चाहिये परंतु ऐसा तो नहीं होता। शरीर पुष्ट होने पर भी जीव बुद्धिहीन भी होता है। जिसप्रकार वस्त्र के फटने से शरीर नहीं टूट जाता, क्योंकि दोनों भिन्न हैं; उसीप्रकार शरीर के टूटने से कहीं आत्मा नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि दोनों भिन्न हैं। इसलिये आत्मा शरीर से बिल्कुल भिन्न ही स्वभाववाला है।—इसप्रकार ज्ञानी आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर उसी की भावना भाते हैं; और ऐसी आत्मभावना वह मुक्ति का उपाय है।

(वीर सं० २४८२, श्रावण बदी ४)

ज्ञानी अंतरात्मा अपने आत्मा को शरीर से अत्यंत भिन्न जानते हैं, उसकी यह बात है? पर से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जानकर, उसमें एकाग्रता करने का नाम समाधि है। इससे अतिरिक्त परवस्तु मेरी और मैं उसका अधिकारी—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे राग-द्वेष-मोहरूप असमाधि है।

जिसप्रकार मोटा वस्त्र पहिनने से मनुष्य अपने को पुष्ट नहीं मानता; उसीप्रकार हृष्ट-पुष्ट युवा शरीर में रहने से धर्मी अपने को उस शरीर जैसा नहीं मानता; धर्मी जानता है कि यह युवा शरीर अथवा उसकी क्रियायें, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो चैतन्यमय आत्मा हूँ। जिसप्रकार यह जड़ खंभा मुझसे पृथक् है; उसीप्रकार यह शरीर भी मुझसे पृथक् है। अज्ञानी मूढ़ जीव शरीर से भिन्नता को नहीं जानता; इसलिये देहादि के प्रति राग-द्वेष छोड़कर उनसे छूटने का उपाय भी वह नहीं जानता। शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लिये बिना रागादि छोड़ना चाहे तो वे नहीं छूट सकते; भेदज्ञान के द्वारा चैतन्य के आनंद में एकाग्रता द्वारा ही रागादि छूटते हैं। जब शरीर ही मैं नहीं हूँ तो फिर शरीर की निरोगता से मुझे सुख हो—यह बात कहाँ रही? शरीर आत्मा से भिन्न है, उससे आत्मा को सुख-दुःख नहीं है, आत्मा स्वयं ही सुख-दुःखरूप परिणमित होता है, विषय उसको क्या करें? आत्मा का सहज स्वभाव तो चिदानंद सुखस्वरूप है, उसके अनुभव में तो सुख ही है परंतु उसे छोड़कर अज्ञानी शरीर को अपना मानकर उस शरीर के प्रति राग-द्वेष करके राग-द्वेष का अनुभव करते हैं, वह दुःख तथा असमाधि है।

ज्ञानी तो जानता है कि ज्ञान और आनंद से पुष्ट, ऐसा मेरा आत्मा ही मेरा स्व है। ऐसी आत्म-प्रतीति में ज्ञानी अपने चैतन्य सुख का अनुभव करते हैं, वह समाधि है, वह मोक्ष का कारण है।●●

तप से भी सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता

तीव्र तप से तप्त होने से जिसका देह क्षीण हुआ है, ऐसा मुनिराज जब सम्यग्दर्शन से निर्मल होता है, तब उसे आत्मा का अनुभव आता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन से ही आत्मानुभूति होती है, तप से नहीं। अकेला तप शरीर को क्षीण करेगा परंतु वह आत्मा को आत्मानंद से वंचित रखता है। अत: सम्यग्दर्शन तप से श्रेष्ठ है। (सि.सार. १-६४)

सम्यग्दर्शन रहित भव्यों को नाम मात्र भी अणुव्रत नहीं, फिर महाव्रत कैसे प्राप्त होगा ? ॥६० ॥

इस जगत्त्रय में सम्यक्त्व के समान कोई अमूल्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि इसको धारण करने से मनुष्य संसार (मिथ्यात्व-रागादि दोष) का नाश करता है, दीर्घ संसारी नहीं रहता है क्योंकि उत्कृष्ट रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल से अधिक समय संसार में नहीं रहता, और यदि सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ तो वह पुरुष थोड़े भव में ही मुक्त होता है ॥६३ ॥

सम्यग्दर्शन के बिना देवगति हो या चारित्र में अति प्रयत्न से अप्रतिहत प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य हो तो भी वास्तव में मुक्त नहीं होता। तात्पर्य-सम्यक्त्व रहित जीव चारित्र के बल से नवम ग्रैवेयक स्वर्ग तक जाता है परंतु वह भवसमुद्र में भ्रमण करता है ॥६४ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शन रहित हैं, वे कितना भी घोर चारित्र पालें, तथापि जिसका उल्लंघन (नाश) करना शक्य नहीं है, ऐसे अनंत सांसारिक दु:खों का पार वे नहीं लगा सकते। तात्पर्य-सम्यग्दर्शन नाव के समान है, उसका आश्रय छोड़कर जो केवल चारित्र ही पालता है, वह मुक्त नहीं होता ॥६५ ॥

सम्यक्त्वरहित ज्ञान तथा चारित्र, अज्ञान और अचारित्र है। सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान और निर्मल चारित्र लोगों में प्रशंसायुक्त होने पर भी अज्ञान और अचारित्र होते हैं, तथा संसारवर्धक होते हैं ॥६६ ॥

इसलिये सम्यग्दर्शन परम धर्म है। सम्यग्दर्शन ही निर्मल सुख है। तथा वह भव्य जीवों को मुक्ति का उत्तम कारण है ॥६७ ॥

संसार दु:खों का अंत करनेवाला यह जिनेश्वर शासन जिसके हृदय में रहता है, वह विद्वत्गणों में श्रेष्ठ है। **जिसके मन में एकबार सम्यग्दर्शन की वासना उत्पन्न होती है,** वह

नर सर्वजनों में श्रेष्ठ होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥६८॥

नि:शंकितादि अष्ट गुणों से युक्त यह सम्यग्दर्शन एक उत्कृष्ट रत्न है, इसे जिसने अपने हृदय में धारण किया है, उसके पास सर्व प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥६९॥

संवेग—रत्नत्रयरूप धर्म-धर्म का फल, जिनेश्वर कथित-गणधरादि-प्रणीत शास्त्र, परिग्रहरहित रत्नत्रय आराधक मुनि इनमें जो धर्मानुराग संवेग है ॥७०॥

निर्वेद—रत्नत्रयरहित अर्थात् उन्मत्त मित्र, पुत्र, स्त्री आदि सर्व कर्म संयोग से आते हैं। मात्र पवित्र रत्नत्रय ही आत्मा का स्वभाव है, जो आदरणीय है—ऐसा चिंतन निर्वेद का लक्षण है ॥७१॥

निन्दा—जब आत्मा कषाय से व्याकुल होता है, तब वह सज्जन-निंद्यकार्य करता है। परंतु जब कषाय का वेग कम होता है, तब मैंने अयोग्य कार्य किया है, ऐसा जो मन में अनुताप होता है, उसे निंदा कहते हैं ॥७२॥

गर्हा—राग-द्वेषादि दोषों के वश जो घोर पाप होता है, तब गुरु के आगे उसकी स्पष्ट आलोचना करना-पश्चाताप पूर्वक वर्णन करना ॥७३॥

प्रशम—असंख्य प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभादि दोषों प्रति मन का स्वभाव से ही शिथिल होना; कोई दुर्निवार तथा बड़ा कषाय का कारण उत्पन्न होने पर भी जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता; विवेक-धैर्यसहित स्वसन्मुख ज्ञाता रहना, वह भव्य जीव प्रशमगुण का धारक है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥७४॥

भक्तिगुण—निर्दोष जिनदेव, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकार का संघ, पंच कल्याणक जिन महोत्सव इत्यादि प्रसंग पर सम्यग्दृष्टि, आशारहित, निर्मल परिणामों सहित उन देवादि प्रति भक्ति अनुराग किया जाता है, वह भक्ति है।

वात्सल्य—अन्न, औषध आदि द्वारा संघ की गोवत्ससम प्रीति, प्रशंसनीय सेवा मन-वचन-काय से की जाती है।

अनुकंपागुण—संयोग से या ज्ञान द्वारा किसी को दु:ख नहीं होता है किंतु कमजोरी से अपने देहादि में ममत्व वा राग के कारण या झूठी गिनती करने से ही दु:ख उत्पन्न होता है, ऐसी समझपूर्वक किसी को रोग चिंता, वधादि पीड़ा से पीड़ित देखकर करुणाभाव उत्पन्न होना, उसे दूर करने की भावना होना, अनुकंपा है ॥७७॥ ●●

शुद्धात्मा को पहिचानना, यही जिनशासन का तात्पर्य है। शुद्धात्मा का ज्ञान करने में सभी का ज्ञान हो जाता है।

[परमात्मप्रकाश, गाथा ९९-१०० के प्रवचन में से]

भगवान ने जो दिव्यध्वनि में कहा, उसको ग्रहण कर गणधरादि संतों ने क्या किया? कि अपने शुद्धात्मतत्त्व को जानकर उसकी भावना में लीन हुए; इसमें समस्त जैनशासन का समावेश हो जाता है। तुझे अगर जिनशासन का मर्म जानना हो तो स्वसन्मुख होकर निजात्मा को अनुभव में ले। इस बात को बड़े-बड़े आचार्यों ने सम्मत की है, इसलिये तू भी उसका अनुसरण करके स्वसंवेदन से तेरे शुद्धात्मा को पहिचान।

आत्मा को जानने पर समस्त जगत ज्ञात हो जाता है; वह किसप्रकार? इसका यहाँ पर चार प्रकार से वर्णन करते हैं:—

(१) आत्मा को जानने से बारह अंगों का सार जाना जा सकता है।

बारह अंगों का सार शुद्ध आत्मा है; शुद्ध रत्नत्रयरूप परमात्मध्यान, वह बारह अंगों के अध्ययन का फल है। इस कारण जिसने ऐसे शुद्ध आत्मा को निर्विकल्प स्वसंवेदन में लिया, उसने बारह अंगों के तात्पर्य को जान लिया।

देखो, द्वादश अंगरूप सर्व श्रुत का फल क्या? कि निर्विकार स्वसंवेदन से अपने आत्मा को जानना, वह सर्व श्रुत का फल है; अर्थात् जो शुद्ध आत्मा को स्वसंवेदन द्वारा नहीं जाना तो उसका शास्त्र ज्ञान भी निष्फल ही है। सभी शास्त्रों का तात्पर्य तो शुद्धात्मा का अनुभव करना है। जिसने अंतर्मुख होकर शुद्धात्मा को अनुभव में लिया, उसने निजात्मा को जानने पर सभी जान लिया।

श्री रामचंद्रजी, पांडव, हनुमान, भरत, बाहुबली इत्यादि महात्मा ज्ञानी थे। वह स्वसंवेदन द्वारा शुद्धात्मा को जानते थे; उनने वीतरागी जिन दीक्षा धारण करके बारह अंग के साररूप निश्चय-रत्नत्रयस्वरूप निजात्मा का ध्यान किया, ऐसा ध्यान करना वह सर्वश्रुत का सार है। और जिसने ऐसा ध्यान करके निजात्मा को जाना, उसने सर्व जान लिया।

(२) आनंद के वेदन से स्व को जानने पर समस्त पर को भिन्न जाना है।

सम्यग्दर्शन के समय अतीन्द्रिय आनंदमय आत्मा का वेदन हुआ। वहाँ उस समय धर्मी

जानता है कि ऐसा आनंदमय आत्मा मैं ही हूँ, और देह-रागादि समस्त पदार्थ मेरे से भिन्न हैं। इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान होता है। आनंद का जो स्वाद आया, वही मेरा स्वरूप है। इसप्रकार अपने स्वाद से अपने ही को जानता है और इसके अलावा समस्त पदार्थों को अपने से भिन्न जानता है। इसप्रकार समस्त पदार्थों के भेद को जान लेता है। इससे अतीन्द्रिय आनंदमय आत्मा का स्वसंवेदन होने पर समस्त पदार्थों को जान लेता है। स्व क्या ? और पर क्या ? इसका भेद जान लिया, वहाँ पर सभी जानने में आ गया। स्व का ज्ञान करते समय आनंद का वेदन सम्मिलित रहता है। गृहस्थ में रहे हुए सम्यग्दृष्टि को भी स्व-पर समस्त पदार्थों का ऐसा ही ज्ञान होता है।

(३) श्रुत द्वारा लोकालोक को जाननेवाले आत्मा को जानने पर सबको जाना।

आत्मा श्रुतज्ञानरूपी साधन के द्वारा लोकालोक को जानता है। वह श्रुतज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं। समस्त श्रुतज्ञान शुद्धात्मा में समाविष्ट हो जाता है; इसलिये स्वसंवेदन से जिसने शुद्धात्मा को जाना, उसने लोकालोक का ज्ञान कर लिया, ऐसा कहा। श्रुतज्ञान तो आत्मा है। श्रुतज्ञान द्वारा लोकालोक को जानने की शक्ति आत्मा की है, ऐसे आत्मा को भावश्रुत द्वारा जानने पर समस्त लोकालोक का ज्ञान उसमें सामविष्ट हो जाता है।

(४) स्वसंवेदन के बल से केवलज्ञान हुआ, उसमें लोकालोक साक्षात् दिखाई देंगे।

जिसने स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा आत्मा को जानकर उपादेय किया, उसने उसके निर्विकल्प ध्यान द्वारा अल्पकाल में केवलज्ञान होगा और उस केवलज्ञान में लोकालोक साक्षात् ज्ञेयरूप प्रतिबिंबित होंगे। स्वसंवेदन ज्ञान अल्प काल में केवलज्ञान को बुला लेगा और केवलज्ञान में लोकालोक तो सहज ही ज्ञात होगा।

इसप्रकार शुद्धात्मा को जानने पर लोकालोक भी जानने में आ जाता है।—इसतरह चार प्रकार से जानकर निज शुद्धात्मा की भावना करना-यही तात्पर्य है और ऐसे शुद्धात्मा की भावना करना, निर्विकल्प अनुभव करना-वही सर्व जिनशासन का सार है, ऐसा भगवान कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार की १५वीं गाथा में कहा है और बड़े-बड़े आचार्यों ने यह बात स्वीकार की है।

भगवान ने जो दिव्यध्वनि में कहा, उसको ग्रहण कर गणधरादि संतों ने क्या किया ? कि अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यानकर उसकी भावना में लीन हो गये। इसमें समस्त जैनशासन

समाविष्ट हो जाता है। तुझको जिनशासन का मर्म जानना हो तो स्वसन्मुख होकर निजात्मा को अनुभव में ले।

जिसने शुद्धात्मा को जाना, उसने जिनशासन का रहस्य जान लिया। जिसने शुद्धात्मा को जाना, उसने लोकालोक जान लिया। इस बात का अनुसरण समर्थ आचार्य भगवंतों तक ने किया है। अरे, इसमें राग से, व्यवहार से मोक्षमार्ग होता है, यह बात कहाँ आई? भाई! तेरे प्रयत्न को शुद्धात्मा की ओर ले जा, अंतर्मुख का प्रयत्न करने से तुझे शीघ्र तेरा स्वभाव देखने में आ जायेगा।

श्रीमद् राजचंद्रजी '**सर्वज्ञदेव परमगुरु**' इस मंत्र का बारंबार स्मरण करने को कहते थे; इसमें रहस्य है। सर्वज्ञ पद की शक्ति आत्मा में है, इसकी प्रतीति में अनुभव का बल है। आत्मा में सर्वज्ञ पद है, इसका लक्षपूर्वक बारंबार आत्मा का स्मरण कर, बारंबार इसकी भावना कर। इसकी भावना करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। परमार्थ सर्वज्ञपद और गुरुपद आत्मा में ही है, उसका ही लक्ष करवाया है। सर्वज्ञपद अर्थात् आत्मा की पूर्ण ज्ञानदशा और गुरुपद अर्थात् आत्मा की साधक निर्मलदशा–यह दोनों दशा आत्मा के स्वसंवेदन से प्रगट होती है; अन्य किसी प्रकार के उपाय द्वारा प्रगट नहीं हो सकती। अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की बारंबार भावना करना, यही परम गुरुओं का उपदेश है और यही मोक्ष का मंत्र है।

आत्मा में से शरीर को निकाल दे, रागादि निकाल दे, तो शेष संपूर्ण आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण रह जाता है, वह तू ही है। वह आत्मा अल्पज्ञता जितना नहीं, परंतु सर्वज्ञता का भंडार है, आत्मा में से जितना भी निकाला जा सके वह निकाल, बाद में जो नहीं निकाला जा सके, जो पृथक् नहीं हो सकता, वही तेरा स्वरूप है। तेरे ज्ञान–आनंद इत्यादि अनंत गुण कभी भी तेरे से पृथक् नहीं हो सकते, यही तेरा वास्तविक स्वरूप है। '**अबाध्य अनुभव जो रहा वह है जीवस्वरूप**' इसप्रकार के आत्मस्वरूप को लक्ष में लेकर स्वानुभव से उसको पहिचान। उसमें तुझे अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होगा, केवलज्ञान भी होगा और तेरे ज्ञान में लोकालोक दिखाई देंगे।

इसप्रकार शुद्ध आत्मा को जानने पर सभी जाना जा सकता है और शुद्ध आत्मा को जानना, वही सर्व जिनशासन का तात्पर्य है।●●

आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी के वचनामृत

चारित्रपना संभवते नहीं है, अध्याय ७

''तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे (निश्चय से) उपादेय कैसे हो ? तथा आस्रव तो बंध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रव भावों को चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव, उसी का नाम चारित्र है' (पृष्ठ २२९) (चतुर्थ गुणस्थान से जितने अंश में स्वसन्मुख वीतराग परिणति है, उतना अंश में निश्चयधर्म जघन्यस्वरूपाचरण है।'

❀❀❀

''निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को (वो) नहीं जानता, इसलिये उसके निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।'' (पृष्ठ २३३)

''आगमज्ञान तो ऐसा हुआ है कि जिनके द्वारा सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जाननेवाला मैं हूँ परंतु 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' इसप्रकार स्वयं को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता।'' (२३७)

''जितने ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट है, वह इस जीव के स्वभाव का अंश ही है,

(पृष्ठ २६)

जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेंगे ऐसे विचार से वे व्रत तपादि क्रिया के ही उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उद्यम नहीं करते।'' (२३८)

''मोक्षमार्ग दो नहीं है किंतु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है, (२४८)

दो नयों के आलंबन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि दो प्रकार हैं।'' (२४८)

''परद्रव्य के ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये; परंतु कोई परद्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं;'' (२५२)

सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्व-द्रव्याश्रित है। इसप्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना (२५३) [नोट-व्यवहार भूमिकानुसार-जो आगम में कहे हैं—ऐसा ही

आता है; इसप्रकार जानने के अर्थ में व्यवहार आश्रय करनेयोग्य कहा है किंतु निश्चय से आश्रय तो एक भूतार्थ ज्ञायक स्वतत्त्व का कहा है; इसलिये मोक्षमार्ग में व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है, ऐसा अर्थ में उसको असत्यार्थ-हेय कहा है।] व्यवहार तो उपचार का नाम है (पृष्ठ १९३-२३०-३३-४९-५१-५३-२५७-२७३) (अनुपचार अर्थात् निश्चय के बिना उपचार=व्यवहार किसका ?) (क्रमशः)

भजन

नाम-रूप से न्यारो, चेतन अपनो रूप निहारो;
मोक्षार्थी को प्यारो, चेतन अपनो रूप निहारो,
ज्ञानानंद विचारो, जिससे आस्रव मल परिहारो;
दुख दोषों से न्यारो, जगवल्लभ चेतन उजियारो।चेतन०॥
जिसको जागे भव दुख भागे, भव-रीत भी सब भागे,
ज्ञान प्रकाशे अध सब नासे, नव-नव भाव प्रकाशे,
समय शक्ति उत्साह विकासे, काम क्रोध रिपु नाशे,
सुख सागर के हंस सु तारक, ज्ञान-ज्ञेय प्रतिभासे।चेतन०॥
शुद्ध चेतना हूँ चिन्मूरत, दृढ़ प्रतीति उर धारी,
नित्य निःशंक भविजन हरषत, भव शंका सब टारी;
शुद्ध-उपयोग रु समताधारी, ज्ञान ध्यान वैरागी,
कर्म कलंक को दूर निकारे, जीव वरे शिव-नारी।चेतन०॥

एक विशिष्ट धर्मात्मा का वियोग

कोटा (राज०)—

आदरणीय 'बाबू ज्ञानचंदजी' पवित्र अध्यात्म के सजग आदर्श साधक थे। आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन ही उनकी जीवनचर्या थी। पूज्य कानजीस्वामी के प्रति उनकी ध्रुव निष्ठा थी, तथा सदा उनके चरणों में ही जीवनयापन करने की उनकी प्रबल भावना थी। गत आसाढ़ मास में, जब कोटा में जैनदर्शन-शिक्षण वर्ग पूज्य बाबू सा० की प्रबल प्रेरणाओं से आयोजित किया गया, उन्हें हृदय रोग हो गया था किंतु मित्रों को भी प्रगट नहीं किया, शरीर के प्रति सदा ही उनकी उपेक्षावृत्ति चलती रही।

कुछ परिचय

बाबू सा० ३०-३५ वर्षों के उपरांत श्री पूनमचंदजी सा० बज के यहाँ ही निवास करते थे, हृदय रोग के लिये सबने विश्राम ही लेने के लिये निवेदन कई बार किया तो बोलते थे कि 'स्वाध्याय और मंदिरजी तो जब तक शरीर चलता है, तब तक छोड़ना नहीं है' हृदय रोग के हल्के प्रकोप तो प्राय: नित्य होते थे, स्वास्थ्य के लिये पूछने पर कहते थे 'इनके जाने का समय अब निकट जान पड़ता है, यह देह अब अधिक रहनेवाली नहीं है।' निधन तो तारीख २१-१०-६७ को सवेरे ६ बजे हुआ किंतु १५ दिन पूर्व से ही वे विशेष सावधान हो गये, अपने परिणामों के प्रति बड़े सजग रहते थे। इस अवधि में उन्होंने काया नश्वरता पर बड़ी सजीव रचनायें भी कीं तथा—

करो धर्म नहिं पता मृत्यु का, पखवाड़े में प्रलय मचे,
पखवाड़ा किसने देखा रे! अरे रात में क्या बीते!
कहाँ रात रे! पल में प्राणी, प्राण पंखेरू गगन उड़े,
पल नहिं श्वास आय नहिं आये, काल कलेवा अभी करे।

तारीख २६ अक्टूबर को सायं हृदय रोग का भीषण प्रकोप हुआ, उस दिन भी स्वाध्याय में सवेरे पधारे थे, रात्रि को समाचार मिलते (श्री जुगलकिशोरजी) श्री माधोलालजी जैन आदि वहाँ पहुँचे, बाबूजी की सेवा में श्री बा० जंबूकुमारजी आदि तो पहले ही थे, भारी पीड़ा थी किंतु रात्रि को कुछ नहीं लेते थे, हम उन्हें अध्यात्मचर्चा एवं पाठ सुनाते रहे। उनकी अभिलाषा भी यही थी 'पूज्य गुरुदेव के वचन सुनाओ' वे स्वयं भी अध्यात्म पाठ बोलते भी थे, बस प्रात:

६ बजे लघुशंका के लिये सरककर बैठे, बाद बिस्तर पर लेट गये, पुनः बैठ गये, उसी समय एक हिचकी के साथ आयु पूर्ण हो गयी। उससमय उनकी आयु ६८ वर्ष की थी।

उनके वियोग का वृत्तांत जिसने सुना, स्तब्ध रह गया। उनके रूप में समाज का एक सुकर्मण्य, कर्तव्यनिष्ठ, महामना सज्जनोत्तम और अध्यात्म-साधक उठ गया है, जिसकी क्षति-पूर्ति संभव नहीं है। कोटा जैन समाज में जो कुछ आज जागृति या चैतन्य दिखाई देता है, उसका अधिकांश श्रेय श्री बाबू ज्ञानचंदजी को है, सामाजिक क्षेत्र में भी इनकी चरित्र निष्ठा की जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है। श्री पंडित चैनसुखदासजी (जयपुर) आपके प्रति भारी प्रेम रखते थे, आपके द्वारा सभा व संस्थाओं के प्रबंध को देखकर आप एक आदर्श व्यवस्थापक थे। कोटा के सुप्रसिद्ध जैन औषधालय और दूसरी अनेक जैन संस्थाएँ उन्हीं के प्रयत्नों का फल है। सोनगढ़ की ओर उनका परम प्रेम था, कभी-कभी महिनों तक वहाँ रहकर पूज्य श्री कानजीस्वामी से सत् संगति का लाभ लेते थे, वे दकियानूसी (हठाग्रह) विचारों के व्यक्ति नहीं थे, अपितु महान उदार थे, मूक सेवक थे, ठीक अर्थ में धर्मात्मा थे, हर जगह निःशल्य थे, अर्थात् माया, मिथ्यात्व और निदान से बहुत दूर। जैन समाज के वास्तविक उत्थान के लिये अनेक योजना बनाते रहते थे। चांदखेड़ी तीर्थक्षेत्र के जीर्णोद्धार में आपका ही मुख्य योग रहा, कोटा जैन समाज उनके उपकारों से उऋण नहीं हो सकता। तारीख २९ अक्टूबर को वृहत् शोक सभा आयोजित की गई, जिसमें श्री दिगम्बर जैन समाज, श्री दिगम्बर जैन औषधालय, श्री अकलंक विद्यालय, श्री वीरसंघ, श्री बघेरवाल नवयुवक संघ, श्री वीर वनिता संघ आदि द्वारा बाबू सा० ज्ञानचंदजी को श्रद्धांजलि अर्पित की गई, और वृहत् सभा में अनेक वक्ताओं ने गद्‌गद् होकर उनके गुणगान किये तथा समग्र समाज ने उन्हें साधु श्रद्धांजलि समर्पित की।

बाबू सा० कोटा स्टेट इंजीनीयरी में हेड ड्राफ्टस में थे। वहाँ भी वे बड़े कर्तव्यनिष्ठ तथा अपने कार्य में दक्ष थे। उनकी दक्षता से प्रसन्न कोटा राज्य के दीवान सा० ने पेंशन के लिये दिया गया उनका प्रार्थना पत्र अस्वीकार कर दिया था। आपने प्रारंभिक जीवन में समाज से कुरूढ़ियों के उन्मूलन हेतु बड़ी-बड़ी आपत्ति झेली। आप बड़े लोक सेवी भी थे, श्री दिगम्बर जैन औषधालय का वर्तमान उन्नत स्वरूप उन्हीं के कठिन परिश्रम का सुपरिणाम है। ३२ वर्ष की आयु में आप विधुर हो गये, पुनः विवाह करने के लिये पूज्या मातुश्री तथा मित्रों का भी किया हुआ आग्रह स्वीकार नहीं किया और जब से वे पूज्य परमोपकारी गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के संपर्क में आये, उनकी जीवन सरिता का प्रवाह ही परिवर्तित हो गया।

सर्वप्रथम १६ वर्ष पूर्व वे मुझे साथ लेकर सोनगढ़ पधारे थे। और उसके उपरांत तो प्राय: प्रति वर्ष ही परमोपकारी गुरुदेव के चरणों के सानिध्य बिना उनसे रहा नहीं जाता था। अध्यात्म से प्रभावित होकर उन्होंने प्रचुर पद्यात्मक साहित्य रचना की सृष्टि की, इंजीनीयरी कला भी अध्यात्म में ढल गई।

उन्होंने गोम्मटसार के स्वाध्याय से बंध-उदयादि संबंधी अनेक सुंदर चार्ट-तालिकायें तैयार की हैं। जग की नश्वरता की कई सुंदर कल्पनायें भी चित्रांकित की हैं। उनमें नैसर्गिक कवित्व प्रतिभा थी। समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, द्रव्यसंग्रह, इष्टोपदेश, समाधिशतक, सामायिक पाठ, भक्तामर स्तोत्र, आत्मसिद्धि आदि के हिन्दी पद्यानुवाद इसके सजीव प्रमाण हैं। इष्टोपदेश, समाधितंत्र तथा भक्तामर के पद्यानुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने सैंकड़ों स्वतंत्र पद्य भी लिखे हैं, उनमें से अनेक 'ज्ञानतरंगिणी' के रूप में प्रकाशित भी हुए हैं। आप बड़ी कोमल तथा करुणावृत्ति के पुरुष थे, विद्यार्थी, विधवाओं को गुप्त सहयोग किया करते थे तथा अध्यात्म प्रचार हेतु तथा महिला विकास के लिये दस हजार रुपये घोषित करके 'जीवन जागृत कोष' की स्थापना की, जिस राशि और ट्रस्ट के द्वारा यहाँ एक बाल धार्मिक विद्यालय का संचालन हो रहा है। आपकी शेष संपत्ति (बड़ी राशि) आध्यात्मिक साहित्य के हेतु निष्ठा पत्र में रख गये हैं। निष्ठापत्र में सूचना है कि मेरी मृत्यु के पीछे कुछ भी न किया जाये, यदि लोक करना ही चाहे तो 'एक अध्यात्म सप्ताह' मनाया जावे। पश्चात् उनकी आध्यात्मिक रचनाओं के पाठ का कार्यक्रम बराबर चलता रहा, उनके साहित्य, हस्तकला चित्र एवं चार्टों की एक सुंदर प्रदर्शनी का आयोजन किया, सैंकड़ों संख्या ने लाभ लिया, श्रद्धांजलि समर्पित की। उससमय उनके साहित्य रचनाओं में से चयन करके 'ज्ञानांजलि पुस्तिका' प्रकाशित कराकर वितरण की।

पूज्य बाबू सा० समाज के पिता थे और पूज्य गुरुदेव के समान मेरे तो वे जीवन निर्माता ही थे। मैं असहाय हो गया हूँ अब तो जीवन में पूज्य गुरुदेव की ही शरण है और उनके ही वचन दु:ख की इन घड़ियों में धैर्य प्रदान करते हैं। **'जो कुछ हुआ है, सब वस्तु स्वभाव की मर्यादा में ही हुआ है और कुछ भी अनहोना नहीं हुआ है। पूज्य बाबूजी सा० से वंचित हो जाने पर भी उनकी प्रेरणायें आज भी हमारे साथ हैं। सत्पुरुषों के वियोग में पुन: पुन: चिरकाल तक शोक करने की अपेक्षा उनकी प्रेरणाओं को ही आत्मसात करना श्रेयस्कर होता है।**

शोक तो हमें गाफिल करके भ्रांत करता है और प्रेरणायें हमें आलोक देकर हमारा पथ प्रशस्त करती हैं।'

पूज्य बाबू सा० जैसे अनेक नर-रत्नों के निर्माण का एकमात्र श्रेय तो उन युग पुरुष को ही है। इस युग में उस महामानव ने जिस शुद्ध अध्यात्म-क्रान्ति का सूत्रपात किया है, उनके विचार मात्र से यह मस्तक बरबस उनके चरणों में झुक जाता है। अध्यात्म के मूर्तिमान उन गुरुदेव ने इस युग में जन्म लेकर हमारा जो उपकार किया है, उसका अंकन किसी भी भौतिक संपत्ति से नहीं किया जा सकता। आपका 'युगल'

मोक्षमार्गप्रकाशक के बारे में

आत्मधर्म अगस्त अंक नं० २६८ में निवेदन कर दिया है। सस्ती ग्रंथमाला से प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक के बार में उस पुस्तक के प्रकाशक औनरेरी भंडारी श्री सीतलप्रसादजी ने अभी ही स्पष्ट निवेदन कर दिया है, जो जैनसंदेश, सन्मति संदेश, वीरवाणी में छप चुका है। सस्ती ग्रंथमाला आदि संस्था द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक में किसी के द्वारा बढ़ाये गये कथन हैं जो मूल में नहीं हैं, बनारस से छपी मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं हैं किसी अन्य द्वारा हस्तलिखित प्रति में बढ़ाये गये कथन हैं। उसे पंडितश्री टोडरमलजी का कथन नहीं मानना चाहिये। मूल असली खरड़ा प्रति देखने का कष्ट किये बिना जो लोग सस्ती ग्रंथमाला के मोक्षमार्गप्रकाशक को सर्वथा प्रमाणभूत मान रहे हैं, उनको उसी संस्था के मुख्य व्यवस्थापक का निवेदन पढ़ना चाहिये-वीरवाणी तारीख ३-१०-६७ के अंक में छपा हुआ निवेदन निम्न प्रकार।

सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक संबंध

जैनदर्शन पत्र के दिनांक १२-६-६७ के पृष्ठ तीन पर श्री सुजाणमलजी सोनी अजमेरवालों का 'सोनगढ़ से प्रकाशित आचार्यकल्प स्व० पंडित टोडरमलजी सा० द्वारा रचित श्री मोक्षमार्गप्रकाशक के आधुनिक हिन्दी अनुवाद में मनमाना परिवर्तन' ऐसा जो लेख प्रसिद्ध हुआ था, वह पढ़ने में आया और यह भावना हुई कि स्व० पंडितजी की हस्तलिखित प्रति पर से फोटोप्रिन्ट जो जयपुर में दीवानजी बधीचंदजी के मंदिरजी के शास्त्र भंडार में विराजमान है, मंगाई जाये और सस्ती ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्गप्रकाशक का मिलान किया जाये।

अत: श्री पंडित चैनसुखदासजी के अनुग्रह से जयपुर से फोटो प्रिंट लाई गई और स्वयं मैंने सस्ती ग्रंथमाला की प्रति मूल प्रति से मिलान किया और मूल प्रति के अनुसार आगामी शुद्ध प्रकाशन के लिये पुरानी प्रति ठीक कर ली।

वर्तमान जो सस्ती ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित आवृत्ति है, उसमें मूल प्रति के अनुसार कितने ही स्थानों पर अंतर है और सोनगढ़ से प्रकाशित श्री मोक्षमार्गप्रकाशक का आधुनिक हिन्दी अनुवाद पंडित टोडरमलजी साहब की स्वहस्तलिखित प्रति के अनुसार पूर्णतया प्रामाणिक है। श्रीमान् पंडित चैनसुखदासजी ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर फोटोप्रिंट प्रति दिलाई तथा दीवानजी के मंदिरजी के व्यवस्थापकों ने हमारे ऊपर अनुग्रह करके वह प्रति दी; इसलिये हम उनके बहुत-बहुत आभारी हैं।

शीतलप्रसाद जैन (ओनरेरी भंडारी)
सस्ती ग्रंथमाला, देहली

विशेष—सस्ती ग्रंथमाला वह पुस्तक पृष्ठ ८ में जो कथन के बारे में पूछा जा रहा है तो वह कथन मूल प्रति में नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग है या नहीं? उसका समाधान मोक्षमार्गप्रकाशक में है। निर्मल बुद्धि द्वारा नयविभाग नयार्थ को समझना चाहे तो कोई विवाद नहीं है।

सोनगढ़ समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति से विराजमान हैं, सवेरे समयसार कलश टीका तथा दोपहर को समयसारजी पर प्रवचन होते हैं।

सौराष्ट्र में पूज्य कानजीस्वामी का विहार

सौराष्ट्र के अनेक गाँव के मुमुक्षु मंडल पूज्य स्वामीजी को पधारने के लिये विनती करने के लिये आये थे, सोनगढ़ में फाल्गुन सुदी दौज के उत्सव मनाया जाये, पश्चात् सुदी तीज से करीब ढाई मास जितने समय तक विहार होगा; लाठी, राजकोट, बडाल, पोरबंदर, जेतपुर, गोंडल, बडीआ, मोरबी, बांकानेर, सुरेन्द्रनगर, वढ़वाणशहर, जोरावरनगर, लींबड़ी, वींछिया और उमराला का कार्यक्रम होनेवाला है। कार्यक्रम संपूर्ण निश्चित होने पर आगमी अंक में प्रगट होगा।५-१२-६७

नागपुर (म०प्र०) तारीख ५-१२-६७

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल नागपुर के विशेष निमंत्रण पर श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ द्वारा बाल ब्रह्मचारी पंडित रमेशचंद्रजी, परमोपकारी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के टेप रिकार्ड पर अध्यात्म प्रवचन और तीर्थयात्रा फिल्म लेकर पधारे।

टेप रिकार्डिंग के प्रवचन तथा उनका स्पष्टीकरण, शास्त्र सभा, तत्त्वचर्चा आदि के कार्यक्रम प्रतिदिन प्रात: ७ से ९ तक मध्याह्न २ से ३ एवं रात्रि को ९ से १० तीन बार बारह दिन तक होते रहे। आप परमोपकारी स्वामीजी के प्रवचन मधुरवाणी में खुलासा करके हम मुमुक्षु गणों को समझाते थे। पंडितजी के कार्यक्रम स्थानीय श्री परवार मंदिरजी एवं श्री गुलाब सावजी के बड़े मंदिर में नियमित समय पर होते थे।

अंतिम दिन बुंदेलखंड, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान के तीर्थक्षेत्रों की फिल्म दिखलाई गई जिसमें श्री कानजीस्वामी एवं यात्रीगण बड़े भक्तिभाव से दर्शन-पूजन करते दिखाई दे रहे थे, तब उसी समय पंडितजी भी सोनगढ़ के बारे में जो भ्रांतियाँ फैली है, उनका निराकरण भी फिल्म के साथ ही बड़े सुंदर ढंग से करते जाते थे। उपस्थिति इतनी अधिक थी कि श्री परवार मंदिरजी का विशाल प्रांगण भी छोटा पड़ गया था। इसप्रकार अच्छी धर्मप्रभावना हुई। कार्यक्रम मुमुक्षु मंडल द्वारा पंडित रमेशचंदजी के परिचय एवं आभार प्रदर्शन के पश्चात् संपन्न हुआ था। यहाँ से पंडितजी रामटेकजी वंदनार्थ गये वहाँ भी श्री शांतिनाथ मंदिर में तथा तारणस्वामीजी के मंदिर में एक-एक कार्यक्रम हुआ और वहाँ भी अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

शिखरचंद बड़कुर, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, नागपुर

साधु की दृष्टि और संयोग की दृष्टि

राजा-रानी दोनों के पास एक साधु आया। रानी के सामने देखकर शिर धुनाया, राजा पूछता है कि बाबाजी उसका रहस्य क्या है ? साधु ने कहा मैंने सुना था रानी विश्व-सुंदरी है किंतु नहीं है। तब राजा ने कहा—आप हमारी दृष्टि से देखो तो हमारी मान्यतानुसार दिखेगा-सिद्धांत यह है कि जगत वर्तमान क्षणिक संयोग की ओर से देखकर दो द्रव्य में एकत्व-कर्तृत्व-ममत्व के उपचार को सत्य समझकर पर से भला-बुरा; राग करते-करते भला होने की भावना कर रहा है, वह उपाय झूठ ही है। तब ज्ञानी नित्य अनंत शक्ति संपन्न असली वस्तुतत्त्व को स्वभाव (निजशक्ति-उपादान दृष्टि) से देखता है कि हरेक पदार्थ पर का कुछ नहीं कर सकते किंतु अपने भाव में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय स्वतंत्रतया वर्तन करते हैं, ऐसा प्रतिभास में आता है और स्वभाव की ओर से न देखकर संयोगदृष्टि से देखा जाये तो परतंत्रता पराश्रय से लाभ माननेरूप मिथ्या प्रतिभास ही होगा—'दृष्टि वैसी सृष्टि'।

खास सूचना

सर्व मुमुक्षु मंडल के भाईयों और बहिनों, मुमुक्षु मंडल संघ और मंदिर के व्यवस्थापकों से निवेदन है कि श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ की ओर से निम्नलिखित गुजराती एवं हिन्दी पुस्तकों में प्रचार हेतु कमीशन देने का निश्चय किया गया है। यह योजना मिती माघ सुदी दूज दिनांक ३१-१-६८ तक के लिये ही है। अतः इस योजना से लाभ उठावें। ये पुस्तकें खरीदने योग्य व अभ्यास करने योग्य हैं।

कमीशन योजना गुजराती एवं हिन्दी पुस्तकों पर

(१) १) रुपये से २५ रुपये तक की पुस्तकों पर ५ प्रतिशत

(२) २६) रुपये से ५० रुपये तक की पुस्तकों पर ७ प्रतिशत

(३) ५१) रुपये से १०० रुपये तक की पुस्तकों पर १० प्रतिशत
(४) १०१) रुपये से २५० रुपये तक की पुस्तकों पर १२ प्रतिशत
(५) २५१) रुपये से और उससे ज्यादा कीमत पर १५ प्रतिशत

पत्र व्यवहार का पता—

व्यवस्थापक-पुस्तक बिक्री विभाग
दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

गुजराती पुस्तकें

आत्मप्रसिद्धि	३)७५
आत्मसिद्धि शास्त्र (सार्थ)	)३१
आत्मसिद्धि गुटका	)६०
आत्मसिद्धि गाथा	)१३
अपूर्व अवसर	)५०
अनुभवप्रकाश	१)
आलोचना	)१३
अष्ट प्रवचन	१)
भजनमाला	१)
चिद्विलास	)७५
लघु जिन पूजा पाठ	)१३
मंगल तीर्थयात्रा	६)
मोक्षमार्गप्रकाशक	३)
मोक्षशास्त्र	४)
मोक्ष की किरणें-२	१)६३
मुक्ति का मार्ग	)७५
नियमसार प्रवचन-२	१)६३
योगसार दोहा	)१५
पंचास्तिकाय संग्रह	३)
पंचास्तिकाय हरिगीत	)३१
प्रवचनसार हरिगीत	)३१
पंच कल्याणक प्रवचन	२)२५
जिनेन्द्र पुष्प पल्लव	)५०
सम्यग्दर्शन-२	)५०
जैन सिद्धांत प्रवेशिका	)१६
समयसार प्रवचन, भाग १	४)
समयसार प्रवचन, भाग ४	३)
समयसार पद्यानुवाद	)३१
समयसार गुटका	)७५
समवशरण स्तुति	)५०
स्तवनमाला	१)१२
स्तवनावली	)७५
सामायिकपाठ सार्थ	)३०
पुरुषार्थसिद्धि	२)
समाधितंत्र हरिगीत	)१५
सम्यग्ज्ञान दीपिका	१)५०

हिन्दी पुस्तकें

प्रवचनसार	४)
अनुभवप्रकाश	)३५
समयसार प्रवचन, भाग ४	४)
समयसार ग्रंथ	५)
समयसार पद्यानुवाद	)२५
छहढाला गाथा	)१५
प्रश्नोत्तरमाला, भाग ३	)५०
द्रव्यसंग्रह	)८५
समयसार कलश टीका	२)७५
मुक्ति का मार्ग	)५०
पंचास्तिकाय संग्रह	३)५०
नियमसार	४)
अष्ट प्रवचन	१)१२
सन्मति संदेश	)५०

नया प्रकाशन

छहढाला सुबोध टीका-सचित्र [आवृत्ति]

यह ग्रंथ सर्वज्ञ वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप होने से, पाठ्यपुस्तकरूप में भी अति सुगम और प्रसिद्ध है, संक्षेप में आत्महितरूप और गागर में सागर समान जैन तत्त्वज्ञान भरा है, सब कोई समझ सके ऐसी स्पष्ट शैली सहित सचित्र ग्रंथ ऐसा सुंदर है कि वर्तमान समाज में सब जगह जिज्ञासुओं को देख देखकर बांटने योग्य है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य १-५० होने पर भी प्रचारार्थ १) ही है, कमीशन नहीं है।

नियमसार (पद्यानुवाद)

आचार्यदेव श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार पर श्री युगलकिशोरजी जैन एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा (राज.) ने सुंदरतम पद्यानुवाद किया है। छोटे साइज में छपा है, मूल्य)२५ पैसा।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

अपूर्व अवसर

अमर काव्य पर प्रवचन तथा कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा तथा समाधिमरण स्वरूपादि संग्रह ग्रंथ–सेठी ग्रंथमाला द्वारा तीसरी आवृत्ति, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १–५०

यह ग्रंथ सातिशय रोचक, आत्मिक उत्साहमय प्रबल पराक्रम और आध्यात्मिक रसास्वाद के रसिकजनों के लिये बारंबार पढ़ने योग्य है, उनकी माँग हमेशा चालू है, इसलिये तीसरी आवृत्ति है। इस बार पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरण स्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना बढ़ायी है।

चिद्विलास (आधुनिक भाषा में)

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति। पृ० सं० १९६, मूल्य १–५०, पोस्टेज अलग। अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म पंचसंग्रह, भाव दीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह काशलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है–अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़ने योग्य है।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना—मोक्षमार्गप्रकाशक की सोनगढ़ की सब प्रतियाँ बिक चुकी हैं, किंतु जयपुर में १५० प्रति हैं। एक साथ १० प्रति से ज्यादा नहीं मिलेगी, ज्यादा चाहिये तो प्रथम से अपना आर्डर बुक करा देवें। अष्टपाहुड़ भी जयपुर से छपनेवाला है, आपको जितनी प्रति चाहिये, इसका भी जयपुर लिखकर आर्डर बुक करा देवें। पता—टोडरमल स्मारक भवन

ठि० ए–४, गांधीनगर रोड, बापूनगर, पोस्ट जयपुर (राजस्थान)

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, भाग १–२ विस्तृत ऐतिहासिक चर्चा

बड़े आकार की दो पुस्तक, पृष्ठ संख्या ८५०, मूल्य १६) पोस्टेज अलग। प्रकाशक टोडरमलजी स्मारक ग्रंथमाला। उसमें आचार्य श्री शिवसागर मुनि महाराज के सामने दो पक्ष के विद्वानों द्वारा जो लिखित चर्चा हुई थी, वही इस ग्रंथ में छपवा दी है। मध्यस्थ होकर जिज्ञासुगण स्वतंत्रतया निर्णय करें। यह पुस्तकें १–सोनगढ़ भी मिलेंगी।

२– पता – टोडरमल स्मारक भवन, ए–४, गांधीनगर रोड, बापूनगर, पोस्ट जयपुर (राजस्थान)।

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचन, जो सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग (सुख का उपाय) समझने के लिये परमोपकारी हैं, उनका अपूर्व यथार्थ लाभ लेने के लिये निम्नोक्त ग्रंथों का —

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५-०
अष्टपाहुड़ शास्त्र	प्रेस में
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४-०
श्री नियमसार शास्त्र	४-०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३-५०
समयसार प्रवचन, भाग १-२-३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	अप्राप्य
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ-९००	५-०
स्वयंभू स्तोत्र	०-५०
मुक्ति का मार्ग	०-५०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १,२,३ प्र.	०-६०
योगसार-निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०-१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०-३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१-०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०-७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	छपेगा
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) जिसमें पीछे से किसी के द्वारा बढ़ाये कथन शामिल नहीं किये गये हैं, मूल में जो कथन है वही आधुनिक भाषा में	२-०
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	२-७५
जैन बाल पोथी	०-२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	अप्राप्य
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	अप्राप्य
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	अप्राप्य
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा.	प्रेस में
भेदविज्ञानसार	अप्राप्य
अध्यात्मपाठ संग्रह	४-०
वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
स्तोत्रत्रयी	०-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२-०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३-७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में १८) ग्रन्थ का मात्र	६-०
अभिनंदन ग्रंथ	७-०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)

प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।